गोपा गौतम

(सम्वाद-काव्य)

संक्षिप्त संस्करण

—जगदीश गुप्त

वाणी प्रकाशन

467/5, 21—ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-2

द्वारा प्रकाशित

छात्र संस्करण 1986

स्वत्वाधिकार डॉ. जगदीश गुप्त

रेखांकन—स्वयं कवि द्वारा

अशोक कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा

कमल प्रिंटर्स, दिल्ली-110031

में मुद्रित

❖

क्रम

प्रश्नांकित बुद्ध— 13

परिणय-प्रसंग—19

बोझीला अंतराल—27

अस्मिता द्वंद्व

संवादांश-1 —37

राहुल-जन्मोत्तर

संवादांश-2 —44

राहुल-जन्मोत्तर

संवादांश-3 —55

यति और गति

संवादांश-4 —63

परिणय की परिणति

संवादांश-5 —74

सिद्धार्थ चिंतन

महाभिनिष्क्रमण से पहले —85

यशोधरा-चिंतन

महाभिनिष्क्रमण के बाद —90

❖

आधार

काव्य-रचना के सन्दर्भ में नयी कविता ने मुझे निरन्तर नयी विचारणा की प्रेरणा दी है। रूढ़िवादी समाज की असहनीय विषमता और अकथनीय मानसिक यातना को मेरे लघुकाव्य 'शम्बूक' में सहज अभिव्यक्ति मिली। उसके बाद स्पष्ट रूप से बहुत कुछ लिखता रहा परन्तु 'युग्म' के बाद की मन स्थिति और अकस्मात् जीवन पर प्रश्न चिह्न लगा देने वाली बीमारी के गहन आसन्न अनुभव ने मुझे गौतम बुद्ध के विरागमय जीवन को आत्मीय भाव से देखने की दिशा में प्रवृत्त किया। अश्वघोष के काव्यों, थेरी गथाओं, जातक-कथाओं के अनुशीलन के अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी साहित्य में गौतम बुद्ध के जीवन को केन्द्र बनाकर लिखी गयी अनेक कृतियों का भी मैने अवलोकन किया। किताबें जुटाने में मेरे प्रिय शिष्य मधुसूदन ने जो तत्परता दिखायी वह सदा अविस्मरणीय रहेगी। जो समस्या मेरे मन में थी उसका समाधान किसी भी नाटक, उपन्यास या काव्य-कृति में मुझे नहीं मिला। हाँ, एक तथ्य ऐसा अवश्य हाथ आया जिसने मेरी कल्पना को झकझोर कर बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण की पूर्व-पीठिका को नये और अधिक विश्वसनीय मनोवैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करने का संकल्प दृढ़ से दृढ़तर बना दिया।

प्रचलित मान्यता के अनुरूप गौतम के महाभिनिष्क्रण को अनुभवत्रय अर्थात् जरा, रोग और मृत्यु दर्शन से ही अनुप्रेरित मान लेने पर संसार से उनकी उत्कट विरक्ति की पूरी भूमिका सामने नहीं आती। कदाचित् इसीलिए "जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि दुःख दोषानु दर्शनम' कहकर गीता में वैराग्य की प्रेरणा के हेतुओं में जन्म को भी जोड़ लिया है। विशेषतः नारियों के प्रति बुद्ध के पूर्वाग्रही दृष्टिकोण का कोई बुद्धि-संगत आधार बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। गार्हस्थिक जीवन से व्यक्तिगत विमुखता की इतनी गहरी अनुभूति कि सहस्त्राब्दियों तक मानव-समाज के एक बड़े भाग को विश्वव्यापी स्तर पर उसकी निरन्तर प्रेरणा देते रहना अपने में इतना बड़ा तथ्य है कि उसके निराधार होने या मात्र परम्परित रूप में ग्रहण किये जाने की बात अविश्वसनीय लगती है। जातक-साहित्य में नारी-निन्दा के ऐसे-ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि लगता है वैदिक

परम्परा की अन्यान्य असहनीय एवं अग्राह्य बातों की तरह उन्होंने उसके नारी-विषयक उदात्त दृष्टिकोण को भी स्वानुभूत यथार्थ की भूमि पर लाकर अनुदात्त बना दिया। यह आलोचना पुरुष-मानसिकता से की गयी है और स्पष्टतः एक पक्षीय है।

"बज्झित्थियो नत्थि इत्थीसु संच्च"

(स्त्रियाँ वध्य है क्योंकि उनमें सत्य नहीं होता)

जातक-कालीन भारतीय संस्कृति प्र0 स0, प0 172

"सब्बा नदी बंकगता सब्बा कट्ठमया बना,

सब्बित्थियो करे पापं लममाना निवातके।

(अण्डभूत जातक) वही प0 174

(जिस प्रकार सब नदियाँ टेढ़ी चाल वाली होती हैं, सारे वन काठ से भरे होते हैं, उसी प्रकार सभी स्त्रियाँ एकान्त पाकर पाप कर्म करती हैं) अगुंत्तर-निकाय (तिकनिपात) में अनेक बुद्ध ने 'वधक भार्या' को पहला स्थान दिया है। (वही, पृ0 176)

यह बात भी सुविज्ञात है कि नारियों के संघ-प्रवेश को गौतम बुद्ध ने सहज भाव से स्वीकार नहीं किया। अपने प्रिय शिष्य आनन्द के आग्रह को वे अन्ततः टाल नहीं सके, तो भी उन्होंने भविष्यवाणी की कि संघ की आयु नारी-प्रवेश के कारण क्षीण हो जायेगी। इस प्रथम संघ-प्रवेश में कपिलवस्तु की जो गौरवमयी नारियाँ सम्मिलित थीं उनमें सिद्धार्थ की मातृश्वास महाप्रजापति गौतमी और सहधर्मिणी भार्या यशोधरा या गोपा भी सम्मिलित थीं। फिर भी गौतम ने भिक्षुणी-संघ के निर्माण का स्वागत नहीं किया यह तथ्य भी मुझे बार-बार सोचने को विवश करता रहा कि अवश्य उनका जीवनानुभव और युग-बोध यथार्थ की ऐसी कठोर भूमि पर खड़ा होगा कि वे उससे, महाकारुणिक होकर भी, विरत न हो सके। मेरी यह धारणा भी सुदृढ़ होती गयी कि वैदिक परम्परा में विरक्ति के प्रधान आधार के रूप में नारी-निंदा मुख्यतया अवैदिक बौद्ध-धर्म की देन है जिसका ज्वलन्त प्रमाण अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' काव्य के स्त्री-विघ्न सर्ग 8 में मिलता है। आश्चर्य है कि साहित्यानुशीलन-कर्ताओं की दृष्टि में वह प्रमुखता प्राप्त नहीं कर सका। 'शान्तरस' के शास्त्रीय प्रतिपादन से पूर्व 'सौन्दरनन्द' और 'बुद्धचरित' दोनों मे उसकी इतनी व्याप्ति मिलती है कि लगता है उसका भी वास्तविक श्रेय इन्हीं काव्यों को मिलना चाहिए। कई अकाट्य प्रमाणों के आधार पर मैं कालिदास को अश्वघोष का परवर्ती कवि नहीं मान पाता। फलतः जो सांस्कृतिक दृष्टि इस पूर्वापर संदर्भ से विकसित होती है उसमें परिवर्तित

नारी विषयक दृष्टिकोण का असाधरण महत्व प्रतीत होता है। कालिदास लालित्य, अनुरक्ति और अर्धनारीश्वरपरक उस शैवधारणा के पोषक कवि हैं जिसे मैने 'युग्म' में पुनर्प्रतिष्ठित किया है। उनके इष्टदेव अष्टमूर्ति-शिव हैं बुद्ध नहीं जो अश्वघोष के उपास्य हैं । मैनें इस लघुकाव्य में एक संतुलित दृष्टिकोण अपनाने की चेष्टा की है और मार-विजय के प्रसंग को प्रतीक रूप से उसका आधार माना है। शिव

कामजयी हैं, बुद्ध मार-विजयी। काम सौन्दर्य-देवता हैं और मार अपदेवता । काम भस्म हो जाने पर भी अनंग होकर जीवित रहने का वरदान पाता है पर मार निस्तेज होकर अपनी सेना सहित सदा के लिए पलायित हो जाता है। इस दिशा में भी मेरा स्वाध्याय चलता रहा है। आगे वह किस रूप में प्रतिफलित होगा, कह नहीं सकता, पर इस 'गोपा-गौतम' काव्य की उद्भावना में उसका सम्यक् योग रहा है। इसमें संदेह नहीं।

कवि के निजी जीवनानुभवों की छाया भी उसकी रचनाओं पर पड़ती है। कभी-कभी तो निजी अनुभव ही इतना प्रधान होता है कि कथा-वस्तु को अपने अनुरूप ढालकर वह स्वयं उसमें अन्तर्व्याप्त हो जाता है। यह अलगाव जब वही नहीं रख पाता जो रचता है तो दूसरों की क्या बिसात है। रचना-प्रक्रिया में संश्लेषण की भूमिका ही प्रधान रहती है, विश्लेषण उससे पहले और बाद की स्थितियों में ही सक्रिय हो पाता है। मैंने महाभिनिष्क्रमण के पीछे की मानसिकता और परिस्थितियों के कई कल्पना-चित्र उभारे हैं। उनमें जो पारस्परिक संगति है वह बाह्य कम आन्तरिक अधिक है। यदि वे विश्वसनीयता अर्जित कर पाते हैं तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

परिणय के अनन्तर दस वर्षों तक गोपा-गौतम का निस्सन्तान रहना एक ऐसा तथ्य है जिससे इस कथा-काव्य को केन्द्रीय प्रेरणा मिली है। इसकी ओर मेरा ध्यान स्वयं गया। 'अन्तराल' के बाद की सारी मनोभूमि इसी पर टिकी हुई है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, अभी तक किसी ने इस तथ्य को अपेक्षित महत्व देकर इसका यथोचित साहित्यक उपयोग नहीं किया। मैने सभी पक्षों नये सिरे से विचार करके अन्ततः यह दुस्साहस कर ही डाला क्योंकि इसके लिए एक अदम्य प्रेरणा मेरे मन को बराबर मथती रही। इस उपयोग में औचित्य कहां तक आ सका, यह निर्णय सुधी साहित्याभ्यासियों पर ही निर्भर रहेगा। स्वयं मैं तो सरस्वती को ही साक्षी मानकर चला हूँ।

तुलसी ने कौशल्या की वत्सल-छवि आँकते हुए लिखा—'थन पय स्रवहिं, नयन जल छाये।' गुप्त जी ने इसे यशोधरा के व्यक्तित्व में समाहित करते हुए कहा।

'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।

आँचल में है दूध और आँखों में पानी।।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 9

मैंने यशोधरा (गोपा) की नयी परिकल्पना की है जिसमें उसके माता-रूप की अपेक्षा नारी-रूप प्रधान है। यह स्वाभाविक है कि गौतम की नारी-विषयक धारणा बनाने में गोपा का, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, विशेष योग रहा हो। अबलापन मुझे उसके सर्वथा अनुपयुक्त लगा। जिस गोपा को मैंने रूपायित किया है वह शान्त-सौम्य स्वभाव वाले गौतम की सहधर्मिणी होकर भी सबला है।

स्वार्थ का परमार्थ पर हावी होते जाना और अधर्म का धर्म को, भोग का त्याग को कुंठित एवं अपदस्थ करके आच्छादित कर लेना मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से संकट का द्योतक लगता है। मूल्य-मूढ़ता की यह अमानवीय आँधी भारतीय परिवेश में और भी भयावह प्रतीत होती है। भौतिकवादी विचारों से प्रेरित हिंसामयी क्रान्ति भी मेरी दृष्टि से मानव-समस्या का वास्तविक समाधान नहीं है क्योंकि वह मनुष्य को निरन्तर वर्ग-संघर्ष में लीन मूलतः स्वार्थी और अर्थानुचर मानकर चलती है। शोषित के प्रति सच्ची सहानुभूति मनुष्य के अवमूल्यन पर आधारित नहीं हो सकती। बुद्ध के बहुजन-हिताय महाकरुणिक, प्रज्ञासम्पन्न, एवं परममानवीय व्यक्तित्व की यह सृजनात्मक स्मृति संभव है कुछ दिशा-भेद उत्पन्न कर सके।

मैं मानुषी बुद्ध तक ही अपनी सीमा मानता हूँ और इसीलिए गौतम का चित्र मैंने सामान्य किन्तु सम्मान्य मनुष्य के रूप में ही प्रस्तुत किया है।

स्वच्छन्द रीति से स्फुरित एवं निर्मित कुछ प्रतीकात्मक रेखा-चित्रों द्वारा मैंने अपने अभिप्राय को रूपायित भी किया है।

शैली-शिल्प की दृष्टि से विविधता और मिश्रण इसमें भी है पर 'शम्बूक' जितना नहीं। संवादों की बहुलता और प्रमुखता के कारण मैंने इसे 'संवाद-काव्य' की संज्ञा दी है। संभव है आगे प्रचलित होने पर इसे लोक और शास्त्र की मान्यता भी मिल जाय। सम-शील किन्तु भिन्न स्वभाव वाले दो व्यक्तियों के बीच संवादात्मकता का कुछ आधार मैंने अपने चित्रान्वित-काव्य 'युग्म' में लिया था। 'गोपा-गौतम' में भिन्न धरातल पर बुद्ध-युग के प्राचीन संदर्भ में उसकी नवीन अवतारणा हुई है।

इस काव्य में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक की और अन्तरंग स्थितियों का निरूपण, मानवीय पक्ष उभारते हुए, किया गया है। और, जीवन्त मानवीयता किसी युग विशेष तक सीमित नहीं होती।

कवि की ओर से इतना कहा जाना भी अधिक ही है। आभार उन सबके प्रति जिनसे मैंने प्रेरणा पायी, परामर्श लिया और जिन्होंने वह सब कुछ सद्भावपूर्वक दिया।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 10

—जगदीश गुप्त

यह कृति
पूजनीया माँ
श्रीमती रामादेवी के
सतत गतिशील आस्थामय चरणों में
जिनकी पुनीत छाया
मुझे अब भी सुलभ है।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 11

❖

संचित होकर
अश्रुमयी पीड़ा ही जैसे
जन्म-जन्म की,
सागर से भी बड़ा
जलाशय बन जाती है ।
प्राणी की ममतामयता ही
द्रवित रूप में,
सृष्टि-व्याप्त करुणा का
आशय बन जाती है ।

-मजुत्तानिकाय की

एक उक्ति से अनुप्रेरित

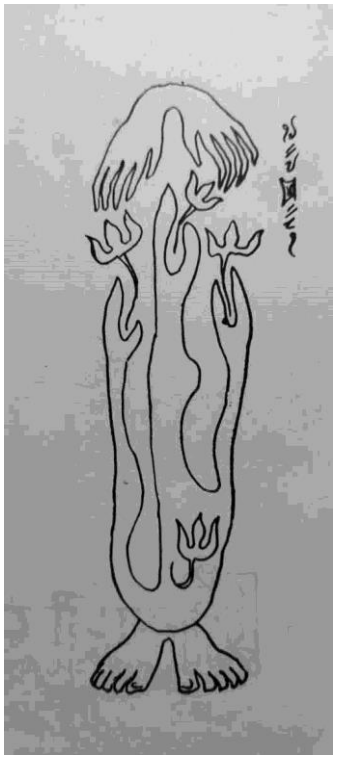

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 12

प्रश्नांकित बुद्ध

अनुरक्ति और विरक्ति में, वहाँ
सिर्फ एक कदम अन्तर होता है,
जहाँ परिस्थितियों के मोड़ पर
पहुँचकर अकस्मात्
अनायास राह बदल जाती है ।

बुद्ध के मन को

किस मोह-भंग ने

कर दिया होगा

अचल जड़ीभूत;

जीवन के कितने गहन अनुभव ने

खोल दिये होंगे

दिव्य ज्ञान-चक्षु;

अन्तर की कौन सी

मर्मान्तक वेदना

ले आयी होगी उन्हें खींचकर

ममतामय संवेदन-कक्ष से —

निर्मम निर्वेद तक,

आज सही-सही सोच पाना असंभव है ।

धुँधले अन्तराल को मिटाना असंभव है ।

फिर भी यत्न करती है

कवि की लघु लेखनी ।

कैसा अनुराग था यशोधरा का

उनके विराग को

जिसने अहरह इतना दीप्त किया,

बन गया बन्धन नही

मुक्ति का एकाधारः

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 13

नारी के हाला-हलाहलमय स्वाद को,

अमृतमय अधरों के स्पर्श

और स्नेहमयी पलकों की छाया को,

आग-पानी से पूरित
देह की धधकती हुई आँच को
वासना के पंक-सने, स्वार्थ-सिक्त,
कुत्सा-ग्रस्त रूप को
पूरी तरह पहचाना होता
यदि नहीं तो
करते संकोच क्यों
नारियों को संघ में प्रवेश-मुक्ति देने में;
सहज ही मान लेते आग्रह आनन्द का ।

अन्ततः उनकी समशील महाकरुणा ही जयी हुई ।
सारी आसक्तियाँ नकारने के बाद भी,
जीवन-प्रवाह के निषेध ही नहीं थे बुद्ध ।
वे थे एक निष्ठावान् अन्वेषक
ऐसे शान्त, सहज, मध्यमार्ग के
योग और भोग की
अतियों के बीच जो
गतिशील जीवन को
ले चले प्रगति की ओर,
उसे सार्थकता दे,
निश्चित स्वाभाविक आयाम में ।

बुद्ध तो जैसे परिपर्णता के
जीवित प्रतिरूप थे ।

पूर्णिमा को जन्म और पूर्णिमा को दिव्य ज्ञान ।
पाया पूर्णिमा को ही महापरिनिर्वाणी ।
वही तिथि वही वैशाख मास,
छंदित पूरा जीवन अनायास ।
उनके मनोरथ को
गति देने वाला प्रिय सारथी भी छंदक था

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 14

लगता है जैसे वह छंदक ही
गौतम के छंद-बद्ध जीवन का वाहक था ।

ऊर्ध्वमुखी दीर्षता में अद्वितीय
पुष्पित दो शाल वृक्ष
जन्म को सहेजे थे;
बाँधे थे मृत्यु को भी
सुरभित दो महाशाल ।

रजत-कान्त सीपी के संपुट में
लहराते मुक्ता-आलोक सा
उनका अकलुष जीवन
युगों-युगों तक
प्रेरित करता रहा जन-मन को ।

युग की आँखों को मिली
कितनी शीतलता
जो आज भी प्रवाहित है !

आज भी अपरिमित है !
साँची, भरहुत या अमरावती
सभी कहीं मानवीय रूप रहित
केवल प्रतीक-बुद्ध चिह्नांकित
चरण-युगल, स्तूप, धर्म-चक्र मात्र,
अथवा अश्वत्थ वृक्ष या केवल भिक्षा-पात्र ।
वेदिका में घिरी हुई,
तोरणों पर समासीन
गरिमा त्रिरत्न की,
मूर्तिमान अन्विति ज्यों
बुद्ध-धर्म-संघ की,
सत्ता-इयत्ता-मय
मुक्ति-कामी मानव-प्रयत्न की
अस्थि-खंड स्तूपों के गर्भ में
युगों तक सुरक्षित रहे हों भले,

पर उनसे मानवीय बुद्ध का
बोध नहीं होता है ।

जातकों की
जन्मान्तर-जीवी परिकल्पना ने
बना दिया गौतम को
कहीं गज, कहीं मृग, कहीं नाग,
मर्कट भी बने कहीं,

जनता की शक्ति से
हीनयान बनता गया महायान
साधकों ने महिमा-मंडित करके
देवोपम बुद्ध को
हाड़-माँस का प्राणी
रहने ही नहीं दिया ।
कवियों ने भी क्या कुछ और किया ।
लेखनी ने तूलिका का साथ दिया,
तूलिका ने छेनी को प्रेरित किया
तीनों की रचनात्मक अन्विति से
कला की त्रिवेणी-सी बहती रही ।
युगों तक पूजा-मंत्र-तन्त्र की
गूढ़ कथा कहती रही ।
बाघ में, अजन्ता में,
अनगिन मुद्राओं में,
लेकर सिगिरिया से
तुंगह्वांग तक की
शिला-रंजित गुफाओं में,
लय-पूरित कोमल रेखाओं में,
सधा-बँधा बुद्ध-रूप
अब भी संकेतों से बोलता है
मानव-मन की गरिमा
रूपायित शिल्पित शिलाओं से तोलता है ।
लुम्बिनी से कसिया तक

जीवन विस्तार का
कुछ रहस्य खोलता है।
झीने सौन्दर्य के परदे के पीछे से
मन का आलोक-वृत्त
बार-बार डोलता है ।
देखकर मथुरा की सौम्य मूर्ति
लगता है जैसे आकाश से
दिव्य प्रभामण्डल के रूप में
चन्द्रमा ही आकर ज्यों
कंधों पर टिक गया,
ध्यान-भंग होने की चिन्ता से
अविकम्पित, आशंकित,
सहसा भारहीन हो ।

गांधार-शैली के विलय-वलित
ललित-मृदु-दुकूली बुद्ध
श्मश्रु-युक्त मुख
फिर भी सुस्मित छवि अधरों की
भूल कहाँ पाता हूँ
क्षण भर भी ।

मार-विजयी की बनी
कालजयी महाकाय मूर्तियां
मानव आकांक्षा के
कल्पित आवेग की

जैसे हों समुपासित

कलामयी पूर्तियाँ।

रची गयी इतनी

कि मूर्ति का ही

हो गये सुपरिचित पर्याय बुद्ध ।

कैसी विडम्बना है

शतियों तक

जिसके सम्मूर्तन का

रहा हो निषेध व्याप्त

उसकी ही ललित-रूप-छायाएँ

कला-कलित पाषाणी कायाएँ

देश-देशान्तर तक

फैलती गयीं अहरह अनुवरुद्ध ।

उन सबके भीतर से

अन्तर्निहित मानवीय रूप को

खोजकर निकालना

प्रायः असंभव है ।

फिर भी यत्न करता हूँ

अपने कवि-धर्म को निबाहने का,

मानव-मन का उर्मिल

अतल सिंधु थाहने का ।

मुझे नहीं लगता,

दर्शन केवल

जरा-व्याधि-मृत्यु का

उनके गृह-त्याग का

एक मात्र कारण था;

उसका निमित्त था

राहुल का जन्म भी,

जिसे “राहु” कहा गया

सहसा उनके द्वारा

सुनते ही समाचार ।

बार-बार यही प्रश्न उठता है

आखिर क्यों ?

आखिर क्यों ?

आखिर क्यों ?

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 18

परिणय-प्रसंग

अनासक्त गौतम के कर से

ले-ले कर उपहार-पात्र सब

शीश झुकाये राज-पुत्रियाँ

मुरझाईं पंकजिनी जैसी

एक-एक कर चली गयीं जब।

विस्मयकारी

अन्तराल-सा उदित हुआ तब ।

नहीं किसी की ओर अभी तक
गयी विरत सिद्धार्थ-दृष्टि जो,
सहसा लगी खोजने उत्सुक
आगत कोई नहीं और तो ।

देखा सम्मुख शून्य अशोभन
और पार्श्व में—
रिक्त-हस्त दासियाँ संभ्रमित
शिथिल देह उनकी श्रम-कण-मय
तारक-खचित दिशा सी लगती ।
पंक्ति सुदीर्घ,
अशोक-पात्र, पुष्पों से पूरित
अब कल्पना शेष थी केवल;
नहीं एक भी पात्र बचा था
बनने को उपहार
किसी क्वाँरी कन्या का ।

राज-कोष सर्वथा रिक्त होने पर जैसे
राजा के मन की आकुलता बढ़ जाती है,
उसी तरह गौतम का मन भी

होने लगा विकल, शंकाकुल !
परिचारिका-समूह

बाट जोहता खड़ा था
राजाज्ञा की,
पर युवराज स्वयं
असमंजस में डूबे थे ।
जाने उनको कौन शक्ति
रोके थी अब तक !

सहसा आहट मिली,
आ रही चली समाने
एक सहचरी अनुनय करती
और लाज से भरी सुन्दरी
किसी अलौकिक रूप-राशि से
आलोकित कर श्यामल धरती,
पग-संचालन करते-करते
        ठहर गयी थी ।
मुखर नूपुरों की स्वर-लहरी
रुकते-रुकते भी जैसे
        फिर लहर गयी थी ।
पुष्पान्वित लवंग-लतिका सी
उस प्रियगुं तरु के नीचे
        किसकी छवि थी वह !
सारा वातावरण सुवासित
        गंध-मयी धारा से मह-मह !
दूध-धुली सी,
कुन्द-कली सी,

इन्दु कलामय,

अमृत-ढली सी

उदित हुई ज्यों दिशाकाश में ।

दो नयनों ने

दो नयनों को

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 20

प्रथम दृष्टि में ही अपना कर

बाँध लिया ज्यों स्नेह-पाश में ।

लगा सभी को

मिलकर जैसे

एक स्वप्न-सा देख रहे हों,

एक सूत्र-सा

इन्द्रजाल का

नये सिरे से

सबके मन को गूँथ गया ज्यों ।

अनायास आयी मंद-स्मिति

पूर्व जन्म की सुधि-सी

कोमल, सूक्ष्म, अलक्षित

सहसा लक्षित हुई आज क्यों ?

युग-युग के परिचय की रेखा

विद्युद्द्युति-सी कौंध गयी थी ।

फिर भी उन दोनों को लगता

जैसे यह पहचान नयी थी ।

औचक पीछे से आकर
जब कहा कृशा ने —
यशोधरे ! लो इन्हें सहेजो,
यह अशोक-भाजन से
सन्मुख स्वयं खड़े हैं ।
केवल पुष्पित नहीं,
स्वेद-मुक्ता-मणियों से
सविधि जड़े हैं ।

हुई संकुलित यशोधरा
यह कौन प्रगल्भा
लेकर मेरा नाम
लगी भूमिका निभाने
चतुर सखी की,
सन्मुख अपने अंतरंग के ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 21

तब क्या यह अपनी इच्छा
मेरे माध्यम से पूर रही है ?
क्यों ऐसी निर्मम आँखों से
मुझको अपलक घूर रही है ?
जब तक यशोधरा कुछ सोचे
उसने उसका हाथ
हाथ में गौतम के
दे दिया खींच कर ।
किन्तु साथ ही

अट्टहास कर उठी

स्नेह से उसे भींच कर ।

गोपा-गौतम दोनों का मन

पहले ही गथ हार चुका था ।

एक-दूसरे को अर्पित होने का पथ

प्रत्याशा से मनुहार चुका था ।

फिर भी नाटकीय परिणति से

उसके मन में शंका पैठी |

पाणि-ग्रहण पुनीत सुदृढ़ कर

कृशा निरंकुश कुश बन बैठी |

सखियों का उल्लास अपरिमित

पुष्पांजलियों में परिणत हो

परिणय की मंगल-वेला में

लगा बरसने देव-सुमन सा ।

फैल गये प्रसून धरती पर

पारिजात के नीचे जैसे

बिछ जाते हैं अनगिन तारे

शीत भोर में ।

डूब गया परिहास-हास

ज्ब हुए निनादित

वद्य-यन्त्र बहु-तीव्र-तीव्रतर ।

गया नाद अपने प्रवेग से

कानों को, प्राणों को, नभ को

एक साथ भर ।
अनुगूँजें मन में स्पंदित हो
अन्तरिक्ष में लीन हो गयीं ।
अतल शब्द का सिन्धु मथ उठा,
शिथिल तरंगें क्षीण हो गयीं ।

शीश झुकाकर
ज्यों ही यशोधरा ने अपना
सित कपोत-सा पैर बढ़ाया
बस इतने से तृप्ति हो गयी
कहीं पार्श्व से यह स्वर आया ।
हुए संकुचित दोनों सहसा,
अखिल खिलखिलाहट —
कानों में लगी गूँजने ।
पवनान्दोलित हुआ पद्म-वन
हिले कमल-दल
हंस-मिथुन मिल लगे कूजने ।

झूम-झूम कर हँसता
वह प्रमदा-समूह
कितना प्रिय लगता ।
अन्तर्मन में निहित
सृष्टि का बीज-भाव ही
अकस्मात् जैसे हो जगता ।
स्वर्गंगा की धवल-धार में

राका-रजनी

सनक्षत्र जैसे प्रतिबिम्बित ।

मदोन्मत्त उल्लास-हास

उच्छल विलास से

छलक-छलक उठता आपूरित ।

गौतम के हाथों में

देकर हार रत्नमय

कहा कृशा ने

'यही स्नेह उपहार

इसे पहना दो सत्वर।'

यशोधरा की सखी

उधर क्या कम सचेत थी,

तुरत पास आ पहुँची गत्वर ।

पहले से ही लज्जानत था शीश

— हार पहनाना भर था ।

लीला-कमल

हाथ में था जो यशोधरा के,

अनायास उसको—

गौतम के चरणों पर

गिर जाना भर था ।

हृतकम्पन-सी पंखुरियों में

नव-दम्पति का
हुआ समर्पण मूर्तिमान ज्यों
कमल-नाल से
प्रकट हुआ
पूरित-पराग किंजल्क-जाल
विधि का विधान ज्यों ।
वह विशाल धम्मिल्ल
सुदृढ़ उष्णीश-समन्वित ।
ललित केश-रचना विचित्र
कलि-कुसुम-विभूषित ।
पाट-पट्टिकाओं से
जिसको भीतर-बाहर
खींच-खींच कर कसास गया हो ।
अगरु-धूम के गंध-कोष से,
धूपति करके, धीरे-धीरे
जिसे अहर्निश बसा गया हो ।
निर्झर के उच्छल जल को

छू-छू कर हिलतीं
वायु-विलोलित
तट-तरु की ज्यों
उलटी-पुलटी धवल पत्तियाँ
दीर्घापांगों से दोलित वे
चंचल पलकें ।
खंजरीट के पाश-सदृश

प्रतिभासित होतीं
पत्रावली-विपोहित अलकें ।

झुका रहा वह शीश अवश
सिद्धार्थ-वक्ष पर ।
तरुणाई ने
तरुणाई में
बाहु-पाश से
दिया स्नेह भर ।
अधरों में जागा कंपन
जब श्वास-श्वास को
मिली उष्णता
घुलते रहे दृष्टि में चुम्बन
प्राणों में उभरी सतृष्णता ।
ज्यों ही मन में हुई उजागर
अभिलाषा एकान्त-वास की ।
चकित उन्होंने देखा, सचमुच
चली गयी थीं सारी सखियाँ ।
पर कुंजों से झाँक रही थीं,
चुपके-चुपके
उनसे भी ज्यादा शरारती
उनकी अँखियाँ ।
उन्मुख होकर
हुए संकुचित ज्यों ही दोनों
सब की सब —

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 25

खिलखिला उठीं, फिर ।
घेर लिया आकर दुष्टों ने,
गये लाज से
नव-दम्पति घिर |

हुईं बाद में पूरी
सब परिणय की विधियाँ ।
किन्तु उन्हें मिल गयी
पूर्व ही ज्यों नव-निधियाँ ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 26

•

बोझीला अन्तराल

ग्रीष्म-वर्षा-शरद की
आवृत्तियाँ होती रहीं ।
स्नेह को उद्दीप्त करने की जगह,
बीज गहरे
मानसिक अलगाव के
बोती रहीं ।

दिवस-निशि
हेमन्त-शिशिर-बसन्त के,
प्राकृतिक आवर्तनों की छाँह में,

हुए आकर्षण-रहित,
अवरुद्ध कपट-कपाट से ।
कभी खुल पाये नहीं
स्वागत भरे उन्माद से ।

एक बोझीली हवा
उद्यान से उद्यान में बहती रही ।
धूल-धक्कण्ड़ से,
कभी हिम से
कभी अंगारमय उत्ताप से,
सौ तरह के कम्पनों-संगुफनों से,
अनमनेपन की शिथिल,
रूखी कथा कहती रही ।

जब कभी बादल छँटे
मन के, गगन के,
भर उठा आलोक आँखों में अपरिचित

द्रुमदलों की ओट से—
सौ बार छनके ।

पर अँधेरा
तनफनाये नाग-सा
पीछे पड़ा था ।
भागने की जगह भी मिलती नहीं थी ।

हर तरफ दीवार बन कर,
कहीं कुछ ऐसा अड़ा था ।

ओज मन का
स्वयं ही निस्तेज होकर सो गया ।
पितृ-ऋण से मुक्ति का विश्वास
सारा खो गया ।

राजकुल चिन्तित हुआ फिर,
सांध्य-छाया की तरह
चिन्ता लगी बढ़ने ।
कुटिलता सक्रिय हुई,
अपवाद की भाषा लगी गढ़ने ।

हो गये मन क्लान्त
गोपा और गौतम के ।
झुक गये सिर स्वयं जैसे
भार से तम के ।
अरुचिकर परिहास भी
लगने लगा उनको ।
निष्कपट विश्वास भी
ठगने लगा उनको ।
विमुखता बढ़ती गयी फिर ।
मन्त्र-सा पढ़ती गयी फिर ।

राह में जैसे
किसी अज्ञात विधि से,
दस मरुस्थल पार करके
पुस्तक पृष्ठ संख्या : 28
इस किनारे आ गये वे,
रेत के सूबे शिथिल विस्तार में
फेनिल मुखों वाले मृगों से
हाँफते, गिरते, सम्हलते
रश्मियों के झिलमिलाते
जलाशय को पा गये वे ।
पर बुझी कब प्यास
और विडम्बना से हुई दूनी ।
दीप्ति आँखों की गयी मुरझा,
निगाहें हुई सूनी ।
विवाहोत्तर किसी दम्पति को
कभी इतना कठिन अभिशाप,
वह भी राजकुल में,
झेलना ऐसे पड़ा होगा ।
व्यथा इनसे अधिक किसकी गहन होगी,
दुःख इनसे अधिक फिर —
किसका बड़ा होगा ?

नृत्य-गायन-वाद्य
सबके स्वर अवांछित थे ।
चित्र-रचना रुद्ध

सारे रंग लांछित थे ।

मूर्तियों में शेष सम्मोहन —
नहीं कुछ भी रहा था ।
सब निरर्थक हो गया उनके लिए,
नव-शिल्पियों की छेनियों ने
जो कहा था ।
राज-प्रासादों भरा वातावरण
बन नहीं पाया हृदय का आवरण
एक करुणा की नदी
उर-प्रान्त में,
अन्तः सलिल बहने लगी ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 29

सूखते विश्वास की निस्वन कथा
वीचियों के घात-प्रत्याघात से
कहने लगी ।
स्वयं ही होकर द्रवित
जैसे सदय स्रोतस्विनी
उनकी कठिन कातर व्यथा सहने लगी
बीत गये दस वर्ष
गोद सूनी की सूनी ।
यशोधरा की व्यथा
रही बढ़ती दिन-दूनी ।

गान-गोष्ठियाँ,

क्रीड़ाएँ उद्यान-विपिन की ।
शालभंजिकाएँ,
यात्राएँ, निशि की दिन की ।

सब विस्मृति में चली गयीं,
अवशेष रहा दुख ।
किसे दिखाये बंध्यापन
अपना पीला मुख ।

यक्ष-वृक्ष, हारीति-अम्बिका
नव-ग्रह पूजन ।
नग-पितर-गंधर्व-तृप्ति,
मख, सूर्याराधन ।

व्यर्थ गये अनगिन उपाय ।
सब मान-मनौती पूजा-अर्चा ।
टोने-टोटके, मन्त्र-तन्त्र-बल
असफल औषधियों की चर्चा ।

सब कहते थे यही—
बाँझ को,
जब अब तक—
कुछ नहीं हुआ,

तो अब क्या होगा ?

लगता था उनको
जैसे इस नव-दम्पति ने,
पाप किया,
सारा सुख भोगा ।

सोच रही थी यशोधरा
मेरा जीवन तो व्यर्थ हो गया
यौवन निष्फल
अपमानित नारीत्व
आत्मविश्वास खो गया ।

परिणत होते ही
जाने कितनी कन्याएँ
सुख-सुहाग से
बन जातीं
सत्वर माताएँ।

मैं अभागिनी
अब तक हूँ जैसी-की-तैसी
सब सुख हैं
परन्तु, जाने क्यों
है विधि की विडम्बना ऐसी !
किसी अज्ञात शक्ति से शापित
मेरा जोवन ?
किस अनबूझ ताप से तापित

मेरा जीवन ?

दायें-बायें सबकी आँखें
गूढ़ व्यंग्य करती रहती हैं ।
शंकाओं के तुहिन-पात से
मेरा मन भरती रहती हैं ।
किस-किस से क्या कहूँ
कौन कारण बतलाऊँ ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 31

नारकीय यातना,
मुक्ति इससे क्यों पाऊँ ?

दिन प्रतिदिन इस-उसके घर में
जन्म महोत्सव होते रहते ।
पर मेरा ही आँगन सूना
द्वार, कक्ष, सब रोते रहते ।
कौन नहीं है दुखी
अप्रत्याशित दंशन से !
जाने किसका शाप-सर्प
लिपटा चन्दन से ।

प्रजावती, शुद्धोदन,
पुरजन-परिजन सारे ।
सन्तति के हित चिन्तित थे
ममता के मारे ।

राज-पाट, सारा सुख-वैभव
क्या अब वंश-हीनता से
अभिशप्त बनेगा ?
क्या सबकी
चिर अभिलाषा की
पंकजिनी पर पंक सनेगा ?

पिता रूप में गौतम को
कब देख सकेंगे ?
कब तक और प्रतीक्षाकुल रह
नेत्र थकेंगे ?
आँगन में क्रीड़ा करता शिशु
कभी दिखेगा ?
भाग्य-पटल पर अब,
विधि क्या कुछ और लिखेगा ?
यशोधरा का मातृ-पक्ष भी उधर दुखी था,
दीपक बिना निशीथ-भवन में कौन सुखी था ?

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 32

शीश टिकाये घुटनों पर बाँहों को बाँधे ।
करुणा की प्रतिमूर्ति, झुकाये दोनों काँधे ।
जाने कब से, यों ही बैठी सिसकी भरती !
आँसू से आँचल-पट भीगा, भीगी धरती ।

सखियाँ आयीं पास सान्त्वना दे दे हारीं ।
इतनी चोंटे कुसुम-हृदय पर किसने मारीं !

+ + +

सत्व-सूचना

एक दिवस उस अंकशायिनी यशोधरा ने ।
अर्ध-निमीलित नेत्रों वाली स्वयंवरा ने ।
नव सत्वा होने के अनुभव की प्रतीति को ।
प्राणों के भीतर सहेजती प्रेम-प्रीति को ।
संकेतों से, लज्जा में उल्लास घोलकर ।
कुछ कहने को चली, कहा कुछ और बोलकर ।
समझ गये सिद्धार्थ, अर्थ को सिद्ध मानकर ।
मुदित हुए, फिर क्षुब्ध, प्रिया-परिहास जान कर ।
चले गये पर्यंक छोड़ तत्क्षण उपवन में ।
मौन-खिन्न-मुख, जाने क्या मंथन था मन में ।
वह पीपल का पेड़, वही अति शीतल छाया ।
जहाँ बैठ सिद्धार्थ, भूलते ममता-माया ।

यशोधरा-चिन्तन

बिना अंक में भरे मुझे क्यों चले गये वे ?
कहीं किसी मन की बाधा से छले गये वे ?
पाकर सुख-संवाद हो गये विमुख आर्य क्यों ?
यशोधरा पर गिरा वज्र, दुख अपरिहार्य क्यों ?
सब कुछ था अनुकूल, मरुस्थल में जल फूटा ।
पर ऐसा क्यों हुआ, स्नेह का बंधन टूटा ।
टूटा या मुझको ही भ्रम ने घेर लिया है ।
अतिशय सुख में शंका ने मन फेर दिया है ।

नहीं-नहीं, सिद्धार्थ अन्यथा क्यों सोचेंगे ?

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 33

नव सत्वा मैं, मुझे और भी ममता देंगे ।

क्या नियोग-चर्चा को ही सच मान लिया है ?

अपने ऊपर कितना अत्याचार किया है ?

कैसे उन्हें दिखाऊँ अपना हृदय चीर कर ।

कैसे समझाऊँ आँखों को रिक्त नीर कर ।

जिन बातों को बिना कहे ही कह मिलता हो ।

संकेतों की समझ जान कर मन खिलता हो ।

उन्हें शब्द देकर छिछला कर दूँ तो कैसे ?

मैं अनर्थ से मुक्त अर्थ भर दूँ तो कैसे ?

कहीं उसी पीपल के तरु के नीचे बैठे ।

सोच रहे होंगे मन की कारा में बैठे ।

स्वयं चली जाऊँ जाकर बोलूँ-समझाऊँ ।

लेकिन वैसे शब्द कहाँ से, कैसे पाऊँ ।

'दासी ! दासी !! एक घूँट पानी तो दे दे ।

फिर जाकर आ देख कहाँ, किस थल पर हैं वे ।'

इतना कहते ही अचेत-सी सुध-बुध खोकर ।

यशोधरा गिर पड़ी भूमि पर मूर्छित होकर ।

दौड़ पड़ी दासियाँ जल-झारी कर में ।

उथल-पुथल मच गयी राजकुल में, क्षण भर में ।

परिणति

रोग-ग्रस्त हो यशोधरा अति क्षीण हो रही ।

फिर भी, नव सत्वा काया थी पीन हो रही ।

दोनों कुल सुख-समाचार से मुदित हो गये ।
एक साथ सौ सूर्य अचनाक उदित हो गये ।
चकाचौंध मन की आँखों में उतर गयी थी ।
मन से भी गहरे, जीवन में निथर गयी थी ।
उसे गुप्त ही रखना हितकर समझा सबने ।
सूर्य सुप्त ही रखना हितकर समझा सबने ।
उमड़ पड़े शतकोटि मन्त्रणाओं के बादल ।
यशोधरा पर घिरे यन्त्रणाओं के बादल ।
सबको चिन्ता थी अजात शिशु के पालन की ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 34

नहीं जान पाया कोई गोपा के मन की ।
प्रजावती गौतमी सदय रहती थीं केवल ।
पर जर्जर थीं वे देती कितना-कुछ संबल ।
गौतम का सान्निध्य इसे पीड़ित करता है ।
मन में कातरता, तन में मूर्छा भरता है ।
उचित नहीं है प्रसव-काल तक उनका आना ।
हुआ गूढ़ निर्णय लेकिन कुछ ने ही जाना ।
अन्तरंग दासियाँ स्वयं प्रहरी बन बैठी ।
उनके मन में भी निगूढ़ शंकाएँ पैठीं ।
क्या कारण था मूर्छा का वे लगीं सोचने ।
उनकी मुद्रा यशोधरा को लगी कोंचने ।
विमुख हुए क्यों ? दम्पति में क्या बात हो गयी
दोपहरी में सहसा कैसे रात हो गयी !
ऊहापोह राजकुल की भित्तियाँ सुन रहीं ।
अर्थपूर्ण दृष्टियाँ कंटकित कुसुम चुन रहीं ।

अस्वागत की रेख देख निज अन्तःपुर में ।
जाग उठी अति गहन तितिक्षा गौतम-उर में ।
यशोधरा के शब्द गूँजते रहे हृदय में ।
पड़े उपेक्षित होकर वे अतिशय संशय में ।
लगे सोचने ऐसा क्या हो गया अचानक !
अपने ही गृह में मेरा प्रवेश क्यों घातक ?
यशोधरा का कहा सत्य, तो यह सब क्यों ?
यदि यह सब है सत्य, कहा क्यों वह मुझसे यों ?
मैं क्या हूँ इस राजभवन मैं नहीं मानता ।
पति भी हूँ क्या ? मैं अपने से पूछ रहा हूँ ।
कटु यथार्थ की गति सपने से पूछ रहा हूँ ।

यशोधरा-चिन्तन

वर्षों लम्बा
महा मरुस्थल बन्ध्यापन का,
पार कर लिया,

काट दिया जीवन लांछन का ।

उनका यह कहना
मुझको दंशित करता था ।
बन्ध्यापन ही
यक्ष-रूप हो भय भरता था ।

पुत्र, पुत्र, हो पुत्र

यही चिन्ता थी मन में ।
बिना पुत्र था सारहीन
सब कुछ जीवन में ।

पुत्री होती तो भी
मुझको सुख ही होता ।
भेद-भाव से रहा
निरन्तर दुख ही होता ।

भीतर-भीतर साल रहा था—
अपयश पति का ।
मुझे ज्ञात उपचार नहीं था—
उनकी मति का ।

अनासक्त वे
उत्तरोत्तर अधिक हो गये ।
मेरी ममता के, माया के
वधिक हो गये ।

जाने उनकी सारी करुणा
मेरे हित में, कहाँ खो गयी ।
या मन के भीतर-ही-भीतर
फिर-फिर जग कर थकी, सो गयी ।

अमिस्ता का द्वन्द्व

(संवादांश - 1)

गोपा— यह तो परिस्थिति है,
विधि है, राजकाज है ।
पुरुषों से घिरी मैं रही तो क्या
नारियों से घिरे आप रहे नहीं ?

गौतम—गोपे ! तुम जानती नहीं हो अभी
पूरी बात ।
नारियाँ जो घेरे मुझे रहती थीं
मुझसे क्या चाहती थीं
सोचा कभी ?
किस-किस के द्वारा प्रेरित होकर
सब-की-सब
मेरे पास आती थीं,
जानकर—
थोड़ी रुचि लेने लगे हैं ।
युवराज राज-काज में ।
वे सब थीं कितने
निगूढ़ अभिप्रायों से परिचालित
ऊपर से लगता था
जैसे वे सारी प्रेमिकाएँ हों
भीतर से कुत्सित,
स्वार्थ-साधना का नग्न रूप !

कोई भी उनमें से

मुझ में अनुरक्त नहीं

गोपा— अब समझी,

इसीलिए बहुत लीन रहे राज-काज में

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 37

होतीं अनुरक्त तो

वसूल लेते भूले सब, करते संकोच नहीं ब्याज में ।

अकस्मात्, पुर-बाहर जाने पर,

तीन ज्ञान पाये थे आपने,

चौथा यह दिव्य ज्ञान

राज-भवन भीतर भी प्रकट हुआ ?

कैसी मधुर मन्त्रणा मिली होगी

अनुरंजित अधरों से

रस-रंजित कानों को !

कैसा अनुभूत सत्य

आकर्षक वेशों में

सघन श्याम केशों में

घेरे रहा होगा तब आपको ?

मैं तो कृतार्थ हुई,

निज भार्या होकर भी, आज तक—

मैं जो माधुर्य नहीं दे पायी

वह सब पर-भर्याएँ

मुक्त काम-कन्याएँ

अनायास, आपकी

अनासक्त झोली में डाल गयीं !

गौतम— मैं तुम से कहता हूँ
जब भी कुछ सहज बात
तुम क्यों ले लेती हो
सदा उसे व्यंग्य में ?
मैं तो निरीह हूँ,
मुझको पाषाण समझ
शाण क्यों चढ़ाती हो,
अपनी मदु वाणी पर ?
क्या मैं हूँ साधन मात्र ?
व्यंग्य का, उपेक्षा का,
प्रमुख पात्र !

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 38

गोपा— क्या मुझको आपसे
इतने परिहास का भी
कोई अधिकार नहीं ?
क्या केवल
त्याग की, तितिक्षा की
बातें ही करना हैं,
जिनका सचमुच कोई पार नहीं ?
आप क्यों सदा ही गंभीर बने रहते हैं ?

गौतम— हाँ, तो उन नारियों की बात
अभी पूरी नहीं हो पायी ।

उनमें रमता कैसे ?
जान लिया मैंने जब—
वे सब तो मेरी पिपासा को
शतविधि उद्दीप्त कर
मुझे एक साधन बना
चाहती थीं राजकीय वैभव,
गौरव, प्रश्रय,
अहरह पदोन्नति
मात्र अपने स्नेह भाजनों की
पतियों, पिताओं, बन्धु-बांधवों की
अथवा किन्हीं गूढ़ अभिप्रायों से
शासन के गोपन रहस्यों को
किसी भाँति हथियाना ।
उनका वह सोद्देश्य
कृत्रिम स्नेहातिरेक से पूरित
लज्जा-हीन व्यवहार,
उसी तरह, लगातार
मुझमें संदेह उपजाता था
चाहता तो दुर्लभ नहीं थी मुझे
उनकी देह
किन्तु मैं तो मन-ही-मन

देहों से नहीं,
संदेहों से ग्रस्त था ।

गोपा— उन्हीं तक रखते
संदेह सभी परिसीमित
मुझ पर क्यों लादते हैं ।
दूसरों का दोष-भार
उनमें और मुझमें
कुछ अन्तर नहीं पाते क्या ?
भार्या हूँ,
जीवन के सुख-दुख की
क्षण-प्रतिक्षण सहचरी ।
नारी नारी में
कुछ भेद नहीं लगता क्या ?
सबको एक जैसा क्यों मानते है ?
नारी की अस्मिता को इतना ही जानते हैं ?

गौतम— नारी है लौकिक एषणाओं की
मूर्तिमान परिभाषा
कितना भी कहो,
किन्तु अन्ततः
तुम भी तो नारी हो
महा-महत्वाकांक्षी !
तुम भी तो चाहती हो
प्रभुता, प्रभुता, प्रभुता !
राहुल के जन्मते ही
कहो क्या तुम्हारा मन
वैसे ही जुड़ा रहा

मेरे मन से
जैसे पहले था ?
मेरे प्रति अपनी उदासीनता को
मुझसे ही कैसे नकारोगी ?
मैं तो भुक्त-भोगी हूँ,

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 40

और यहीं सामने उपस्थित भी ।
कैसे कहोगी तुम
मेरे आकर्षण की प्रखर धार
अब भी तुम्हें सपनों के लोक में
बहाये लिये जाती है ?

गोपा— कितने निर्मम हैं आप !
कितने अकरुण हैं भाव !
आप ही में केन्द्रित था
मेरा स्वप्नलोक सब
राहुल भी आप ही का
नन्हा प्रतिरूप है
देखिये तो उसे कभी
लेकर निज गोद में

गौतम— नहीं गोपे !
फिर से कुरेदो मत मेरी व्यथा ।
गोपन ही रहने दो उसकी कथा ।
अवसर ही कहाँ दिया तुमने उस बात का

बनते ही पिता, मुझे घर से निर्वासन दे दिया गया ।

गोपा— बार-बार वही बात कहते हैं !
क़हने को, मौन बने रहते हैं ।
जानती हूँ,
मेरी परिस्थिति को
मेरी मनस्थिति को,
कभी नहीं समझेंगे, आप भी ।
आपकी वितृष्णा के साथ-साथ,
बढ़ता ही जायेगा मेरा अनुताप भी ।

गौतम— मेरी हर बात तुम्हें
लगने लगी है बुरी,
ऐसे में मेरा यहाँ रहना निरर्थक है ।
तुमसे अब और कुछ कहना निरर्थक है ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 41

जाता हूँ,
हो जाओ लीन तुम
अपने सुख-स्वप्न में !

गोपा— स्वप्न यदि मैं देखती हूँ
आप कल्पनाएँ कर लेते हैं ।
एक ही मनोगति के
दोनों दो रूप हैं ।
कह लें, कहना हो और कुछ,
मन-की-मन में ही क्यों रहे बात;

जानती हूँ,

मुझ पर जो होता वज्र-पात् !

अपने में बनें चाहे जितने मुक्ति-कामी आप

नियति की गति से हम दोनों ही मुक्त नहीं

कितने राज-पुत्रों के

आते रहे लग्न-संदेश

देझ-देश से,

किन्तु आह !

मुझको परिणय के लिए

आना था इसी द्वार !

अन्ततः

घटना-चक्र घटकर ही रहता है,

दुर्निवार !

गौतम—खेद है तुम्हें

मुझसे परिणय का !

तब मैं क्या बात करूँ

जाओ अब सो रहो ।

राहुल-मय हो रही ।

□

लगी सोचने यशोधरा

नीचा सिर करके ।

रोक लिया दृग-जल

घुटनों पर माथा धरके ।
पर रोके से रुका कहाँ
उद्वेग हृदय का |
जाने कितने गुना हो गया
वेग हृदय का ।
होंठ सूखने लगे,
अश्रु से गीला मुख था ।
रक्त शून्य काया,
हल्दी-सा पीला मुख था |

गौतम के जाते ही
हिचकी भर-भर रोयी ।
जाने कब औंधे मुँह गिर,
धरती पर सोयी ।

सहमी-सी थी हवा,
धरा भी निश्चल जड़ थी ।
शब्द-शून्य आकाश,
देह ही बनी निगड़ थी ।

मूर्तिमान निर्वाण,
प्राण थे यशोधरा के ।
गौतम के पद-चिह्न
रत्न थे वसुन्धरा के ।

राहुल जन्मोत्तर

(संवादांश-2)

गोपा— क्या कहूँ और अब आर्य पुत्र !

राहुल के औरस पर शंका है आपको ?

यही योग, यही ध्यान, यही ज्ञान,

सीखा है आपने ?

यही मार्ग है जन की मुक्ति का ?

भार्या का, पुत्र का,

स्वाभिमान कुछ भी नहीं,

अपनी अहंता ही आपको

सर्वोपरि लगती है !

लगता है,

मैं ही कहीं दुर्वह हुई जाती हूँ आपको ।

आज यदि सचमुच

अपराधिनी मैं होती कहीं,

आपका समाश्रय मुझे मिलता क्या ?

राज-प्रसाद के महादिव्य द्वार से

बार-बार दुतकारी जाती मैं

देखते ही रहते आप

मेरा अपमान वह

साधे हुए महामौन ।

भूल जाते सब कुछ दुष्यन्त-सा ।

याद भी न करते कभी—

मैं थी कौन ।

गौतम— होती है अति भी
अर्नगल आरोपों की
नारी की जिह्वा ही
उसका हथियार है ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 44

जहाँ चाहे जैसे जिसे
जड़ से ही काट दे।
वाणी नहीं, तीखी असिधार है,
कुठार है ।

गोपा— पुरुषों के मौन से,
फिर भी श्रेयकर है, वाणी वह
मन का सब कुछ उसमें
छलक-बिखर जाता है
नीरव निगूढ़ता में
रह कर पनपता नहीं
साधना की लिये आड़
रचता नहीं तिल का ताड़ !

गौतम— मेरी मौन साधना पर
ऐसा आक्षेप क्यों ?
मैंने तो सारे वैयक्तिक संदर्भों से
अपने को स्वयं ही
पूरी तरह काट लिया ।

मार्ग में तुम्हारे कभी आता नहीं,
कक्ष में तुम्हारे अब जाता नहीं
जो चाहो करती रहो
मुझको क्या,
अपना कर्म अपने साथ होता है
तुमसे मुझको जो कुछ कहना था,
कह चुका ।
जितना गृहस्थी में रहना था,
रह चुका ।
अब मुझको जाने दो ।
कुछ सार्थक पाने दो ।

गोपा— राज-पाट, मैं, राहुल,
सब कुछ निरर्थक हैं, शंकाकुल;

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 45

यही बात चाहते हैं कहना आप
सीधे कहने में संकोच क्यों ?
मौन बने रहने को करता जो सदा विवश,
इतना दुख-सोच क्यों ?
मैं भी तो जान लूँ ।
जो सच हो, कहा जाय
मैं भी उसे मान लूँ ।

गौतम—बोलता हूँ तो भी वह रास तुम्हें आता नहीं ।
मौन बना रहना भी मेरा तुम्हें भाता नहीं ।
आखिर करूँ मैं क्या ?

ऐसा कहकर मौन हो गये सहसा गौतम ।
गहन मौन से गये बहुत कुछ कह-सा गौतम ।
असह हो गया अन्तराल गोपा को अतिशय ।
गौतम को भ्रम हुआ कहीं कुछ गहरा,
उसको रहा न संशय ।
होकर फिर उद्विग्न लगी कहने अनकहना ।
उसने सीखा नहीं कभी चुप होकर सहना ।

गोपा— मैं पूछती हूँ,
आप कुछ बोलते क्यों नहीं
इस तरह चुप रह कर
क्यों मुझे अपराधी मान रहे हैं ?
मैंने किया ही क्या है !

सोचें तो,
आप मेरे पति होकर
मेरे ही सामने
शंका-संदेह भरी
वाणी जब बोलेंगें
या उसको जाकर एकान्त में
मौन से तौलेंगे
मेरा स्वाभिमान कहाँ जायेगा ?
कोई क्रीत-दासी नहीं हूँ मैं आपकी ?

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 46

मैं हूँ सहधर्मिणी
कुल जाता, परिणीता

कुल-वधू यशोधरा ।

गौतम— रुको, मुझको सोचने दो,

कहाँ मुझसे त्रुटि हुई ?

क्या हुई भी त्रुटि ?

या तुम्हारी स्वयं की दुर्बोधता ही

तुम्हें वाणी की तरह

मुखरा बनाती जा रही है ।

गोपा- आप सोचें, क्षणों सोंचें

दिनों, वर्षों, युगों सोचें

पर नहीं है आपको भी

बिना कारण, किसी पर,

लांछन लगाने का तनिक अधिकार

और फिर जो सहचरी हो आपकी

परिणीत भार्या

साथ जिसके बिताया हो

दशक पूरा ।

क्या नहीं दुर्भाग्य मेरा,

मैं दिलाऊँ आपको विश्वास

राहुल आपका है ?

गौतम—मैं नहीं कहता

कि तुम यह कहो मुझसे ।

दूर मन से इस तरह

मत रहो मुझसे ।

आज मेरी शपथ खाकर
कहो गोपे !
किसलिए तुमने छिपाया गर्भ मुझसे
मैं पिता हूँ, कभी कोई सूचना दी गयी मुझको ?
किया तुमने भी कहाँ संकेत कोई

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 47

क्यों छिपाया गया मुझ से
विकसित अस्तित्व राहुल का ?
स्वर्ग से आ देवता कर गये अर्पित
दिव्य शिशु को ?
भर गये सूनी तुम्हारी कोख !
सूर्य ने ज्यों कर्ण कुन्ती को दिया
इस प्रसव में मैं कहाँ था,
नाम था मेरा ।
नाम से सिद्धार्थ हूँ मैं
पिता राहुल का ।
चलेगा निज वंश
यश भी बढ़ेगा कुल का ।

गोपा— एक दिन साहस जुटा कर
जब किया संकेत मैंने
और कुछ-कुछ जीभ से कह भी दिया था ।
आपने माना नहीं सच,
व्यंगमय परिहास समझा
तुरत होकर आत्म केन्द्रित

विमुख मुझसे हो गये ।

मैं अभागी कर न पायी

तनिक भी प्रतिवाद;

मूर्छा ने अचानक

हाथ मुँह पर रख दिया लाकर ।

राजकुल ने यही माना—

गर्भ की छाया

असह हो आपको ।

जन्म होने तक न जाने

कौन-सा उत्पात हो

आघात हो

मन पर ।

अलग रहना ही

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 48

उचित समझा उन्होंनें

आपका मुझसे ।

गौतम—हाँ, मुझे भी

याद आता है,

कभी कुछ तुमने कहा था ।

इसी जैसा

किन्तु मैं उसके लिए

प्रस्तुत नहीं था

उस समय

ठीक से आशय नहीं समझा ।

लगा जैसे तुम

नयी विधि से

पुनः धिक्कारिती हो

विवश मेरे हीन पौरुष को।

गोपा— हीन-पौरुष

आप अपने को

भले समझे;

मैं नहीं कहती

कभी ऐसी

अनर्गल बात ।

गौतम—बात का कोई नहीं हैं अन्त

न जाने कितना

कहा मैंने सुना तुमने

खोल कर

अवरुद्ध द्वार अतीत के

सभी बीती हुईं घटनाएँ

हमारे बीच आकर

टिक गयीं ।

हम अपरिचित ही रहे जिनसे ।

मनोमय अन्तर्जगत् में

न जाने कितने दिनों तक

हम परस्पर निवेदित होते रहे

हो गये हलके हृदय

कहकर वहीं बातें ।

व्यर्थ जिनका बोझ

हम ढोते रहे ।

गोपा— कभी मैंने नहीं सोचा था
कि मेरी कही बातों को
बाण जैसा साध कर यों
आप ही मुझ पर चलायेंगे ।
यातना की प्रखर ज्वाला से
स्नेह के कुट्टिम हमारे
दरक जायेंगे !

आप से मैंने छिपाया जन्म राहुल का,
सही है आरोप यह,
पर था इसी में हित निहित कुल का ।
गुरुजनों का था मुझे आदेश ऐसा ही,
पर न थी वह बात, मेरे लिए मनचाही ।
चाहते थे वे न उस पर पड़े छाया
आपके वैराग्य की, क्षण भी ।
इसी सब में मिल न पाया आपको
वात्सल्य का कण भी ।
मैं घिरी थी गहन ऊहापोह में इतनी ।
दासियों से सूचना कब भेजती, कितनी ।
है यही अपराध मेरा—दण्ड दो, विष दो !
कुल वधू हूँ, अयश कुल का क्यों मुझी से हो ।
नहीं तो मन से सदा के लिए
दो संदेह सारा त्याग ।
अन्यथा मन को जलायेगी

धधकती आग ।

तीव्र पश्चाताप में

जल जायगा अनुराग !

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 50

गौतम— जले नश्वर राग

इसका दुख नहीं मुझ को ।

मोह-पाशों से

मिलेगा सुख नहीं मुझको ।

हाँ, हुआ संदेह मुझको

किन्तु क्या वह था अकारण ही ?

क्या नहीं तुम स्वयं

कारण बनीं उसका ?

या कि अपने से

समझ कर व्यथा मेरी,

किया होता भ्रम निवारण ही ।

गोपा— मानती हूँ, मानती हूँ

यह हुआ अपराध ।

किन्तु मैं हरिणी नहीं,

तुम भी नहीं हो व्याध ।

नहीं सोचा था

कि मन में आपके भी

मुझे लेकर

भ्रम समायेगा ।

नहीं आया ध्यान,

परम उदारता से भरे
करुणामय हृदय में,
कलमुँही संकीर्णता का भाव
इतना व्याप जायेगा।
चन्द्रमा से अब जलद हट जाय ।
स्निग्ध शीतल रश्मियों से
वाष्प-दूषित सब कलुष कट जाय ।

गौतम—क्यों मुझे दोहरा कलंकी कह रही हो,
चन्द्रमा मैं हूँ कि तुम हो !
फलित होकर भी
रहे जो अधखिला ही,

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 51

तुम वही अद्‌भुत कुसुम हो !

गोपा— चलो, रहने दो मुझे
बस एक नारी ही ।
जिसे ममता चाहिए
प्रतिक्षण तुम्हारी ही ।
बहुत निर्मम हो चुके अब ।
धैर्य मेरा खो चुके सब ।

(मौन के एक लम्बे अन्तराल के बाद)

गौतम—गोपे ! तुमने बहुत कठोर सत्य कहा ।
जितना तुमने समझा मुझको
सचमुच मैं उतना विशाल-हृदय व्यक्ति
कभी नहीं रहा ।

अब तुम किसी दिन अवश्य पाओगी
कि तुम्हारा गौतम
इतना विशाल-हृदय हो गया है,
जैसे सारे संसार की असीम करुणा
उसी के अन्तर में समा गयी हो ।

तुम नारी हो
तुमने राहुल को ही जन्म नहीं दिया
अपने व्यक्तित्व से
आज तुम मेरे भीतर
एक बुद्ध को जन्म दे रही हो
जिसका मातृत्व मेरा
और पौरुष तुम्हारा है
मेरा औदार्य आज
तुम जैसी स्नेहमयी,
फिर भी प्रतिक्षण निगूढ़,
—नारी से हारा है ।
मुझ में विकसित होगा
औरस तुम्हारा यह

मेरे मनोगर्भ से
लेगा जन्म
नया व्यक्तित्व एक
मानव के भीतर जो
सदा रहा अन्तर्हित

किन्तु कभी कहीं जिसे
कोई तिरोहित नहीं कर पाया ।

धरती इसे जाने न जाने
पर श्रेय तुम्हें ही होगा
तुमने मुझे अपनी गोपनता से
चकित किया, शंकित किया
फिर मुझ में तुम्हीं ने
अपने छद्म आचरण से
अतिशय वितृष्णा उपजायी
किन्तु अन्त में
तुमसे ही मिला मुझे
अमृत सत्य
मैं अब एकाकी
तप-लीन होके
अपने को सचमुच
तुम्हारे ही योग्य सिद्ध करते हुए
सच्चा सिद्धार्थ कहलाने का
करूँगा प्रयत्न नित्य ।

गोपा— आशय मैं समझी नहीं !

गौतम—संचित होकर
अश्रुमयी पीड़ा ही जैसे
जन्म-जन्म की,

सागर से भी बड़ा
जलाशय बन जाती है ।
प्राणी की ममतामयता ही
द्रवित रूप में

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 53

सृष्टि-व्याप्त करुणा का
आशय बन जाती है ।
कैसे समझाऊँ मैं
नियति की गहन गति को
स्वयं नहीं जानता;
केवल संकल्प ही करता हूँ आज
उसे जान-समझ लेने का ।
एक दिन पाओगी
ठीक ही कहा था सिद्धर्थ ने;
अन्ततः कहीं भी उसे बाँधा नहीं स्वार्थ ने ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 54

•

राहुल-जन्मोत्तर

(संवादांश-3)

गोपा— जिससे अपमानित हो नारी मात्र
जिससे अपवित्र लगे उसका गात्र
उस दिन सब मित्रों के सामने,
क्यों कही थी वैसी बात आपने ?
किसको बाँधा मैंने, किसे छुआ ?
पति होकर आपको

अपनी उपेक्षा का बोध

कहें, कैसे हुआ ?

गौतम— गोपे मत क्षुब्ध हो

मेरा आशय समझो,

सुस्थिर मन से सोचो,

क्या तुमने मंत्रणा नहीं की एकान्त में

अपने मातुलात्मजों से

उनके तरुण मित्रों से

क्या तुमने अपना कक्ष

वर्जित नहीं किया

किसी अन्य के प्रवेश हेतु ?

मैं ही भुक्त-भोगी हूँ

ऐसे निषेध का ।

क्या नहीं

कक्ष का तुम्हारे द्वार,

कई बार,

मेरे लिए भी अवरुद्ध था ?

गोपा— जहाँ इतने लोग समुपस्थित हों एक साथ

कैसे एकान्त वहाँ और कैसी मन्त्रणा ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 55

ऐसा कह-कह कर क्या आपने

दी नहीं मुझे रौरव-यन्त्रणा !

गौतम— यन्त्रणा थी दोनों ओर

मैं क्या कम पीड़ित-संतप्त था
मुझे लगा
औरों के बीच घिरी
मेरी घर-नारी ही
जैसे पर-नारी हो
जितनी अनुरक्ति थी
तुम्हारे प्रति
उतनी ही तीखी विरक्ति हुई ।

गोपा— बस इसके आगे अब कुछ न कहें
पिघली हुई आग से प्रतप्त शब्द
सहने के लिए अभी मेरे कर्ण
सक्षम नहीं हैं देव !
मेरा दुर्भाग्य है कि
अपनी अर्धांगी पर
आप जैसे सात्विक के मन में भी
ऐसा संदेह जगा,
वह भी इतना निर्मम !
वह भी इतना गर्हित !

अन्ततः आप भी तो
रघुवंशी राम की परम्परा के वाहक हैं,
ऐसे ही गर्हित संदेह पर
कर दिया जिन्होंने
निर्वासित वनान्त में
अपनी आसन्न-प्रसवा

शुभा धर्मपत्नी को ।

गौतम— निर्वासन तुमने ही दिया मुझे ।

अपमानित तुमने ही किया मुझे ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 56

यदि मेरी धारणा असत्य है

तो मुझको द्वार से तुम्हारे

नैश काल में

कई बार वापस क्यों आना पड़ा ?

अपने ही घर में उपेक्षित हो, त्यक्त हो

इतने दिन यातनामय जीवन बिताना पड़ा ।

लगता है, परिणय हो जाने के बाद भी

पूरा तुम्हारा स्वत्व

मुझमें विलीन नहीं हो पाया;

'पर' ही समझती रहीं मुझको तुम !

जब मृण्यम काया ही अपनी क्षण-भंगुर है,

मोह क्या करूँ मैं काया-जात का ?

गोपा— आपके-अपने बीच

और किसे लाऊँ मैं

साक्षी हैं मेरे ये अगणित अश्रु

राहुल किसी और का नहीं है,

आपका ही है ।

सत्व-लाभ पाये बिना

परिणय का एक दशक

कैसे बीता मैं ही जानती हूँ,
आप तो सदा ही, बस अपने में खोये रहे
आपकी विरक्तिमयी
अद्‌भुत अनुरक्ति ने
ऐसे मुझे बाँधा
मैं बन्ध्या कहलाने लगी;
घर-बाहर सभी कहीं
लांछित की जाने लगी ।
अपनी उस पीड़ा को
अपने उस ताप को
अहरह अपमानित हो सहती रही ।
आप हैं अदोष, दोष मेरा है;
सबसे यही कहती रही ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 57

विधि की विडम्बना से,
निरपराध दहती रही ।
दोनों कुलों के अवसाद का,
चिन्ता का, दुख का, विषाद का,
केवल मैं कारण बनी
निष्फल मेरा यौवन !
दुर्वह मेरा जीवन !

{मौन का सुदीर्घ एक अन्तराल
दोनों के बीच शिला-खण्ड सा
भारीपन भरता रहा, भरता रहा,
दोनों का मन उसके बोझ से,

क्षण-प्रतिक्षण, जीता रहा, मरता रहा।

अन्ततः बोले सिद्धार्थ ही -}

गौतम—गोपे अब चुप न रहो ।

जो भी कह सको, कहो ।

मैं कितना क्रूर हूँ

इतने वर्ष

अपने में खोया रहा

लांछन का सारा दंश

तुमने एकान्त सहा ।

गोपा— चाहते हैं सुनना, तो सुनो और—

आपके विरागी मन को

अपनी ओर खींच लेने को

आपके ही पौरुष को जागृत कर

सहज दीप्ति देने को

कई बार मैंने यों नाट्य रचा ।

जैसे मैं आपसे विमुख होकर

औरों की ओर अनुरक्त हूँ

आपने सुना तो आप क्षुब्ध हुए ।

आहत अधिकार और आकुल स्नेह-भाव से,

एक बार फिर सहसा मेरी ओर लुब्ध हुए।

रोष-तोष मेरे लिए

दोनों ही प्रेरक थे

पुनः शयन कक्ष में—

पाकर मैं आपको कृतार्थ हुई
आप तो पहले से ही थे सिद्धार्थ बने
संग-लाभ पाकर अब मैं भी सिद्धार्थ हुई ।
सोते से जुड़ते ही
वर्षों का सूखा सर
पाली तोड़ फूट पड़ा
डूब गया मेरा तन-मन
उसकी बाढ़ में ।
बाहु-पाश इतने दृढ़, इतने सघन,
परिणय के बाद भी हुए थे कहाँ ?
आपने दिवस में भी
मेरे कक्ष के बाहर जाना ही छोड़ दिया ।
पुरजन-परिजन
मन में शंकाकुल हो उठे !
मुझ पर अभिचार सिद्ध करने का
नाहक आरोप लगा ।
यन्त्र-तन्त्र-मन्त्र सभी
मेरे सिर मढ़े गये ।
जाने कितने कारण
अनायास गढ़े गये ।
कुछ ने यह भी सोचा
अपने युवराज किसी रोग से
निपीड़ित तो नहीं हुए ।
प्रतिदिन कुछ-का-कुछ सुनते-सुनते
मुझको भी लगने लगा

ऐसी शंकाओं से
कहीं कुछ अनर्थ न हो ।
मेरा सब किया-धरा व्यर्थ न हो ।
महाराज भी तो कहाँ चाहते थे
राज-काज से इतनी आपकी विमुखता हो,

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 59

मेरे प्रति यद्यपि उन्मुखता उन्हें इष्ट थी ।
अन्ततः अति वर्जित होती है सभी कहीं ।
याद है, मैंने ही आपको सचेत किया ।
बाहों से मुक्त कर,
राहों तक जाने दिया ।
जानी-पहचानी उदासीनता की बात सोच
आँसू का घूँट पिया ।

सुनते रहे सब कुछ एकाग्र-चित्त
पाकर विराम तनिक
गौतम निःश्वसित हुए ।
गोपा ने हाथ से दबाकर हाथ
उन्हें प्रकृतिस्थ किया ।
सहसा स्नेह कातर हो
और पास खींच लिया ।
गौतम ने आखें मूँद
ठंडेपन से ही ज्यों निरावेग
उसका प्रतिवाद किया ।
बोले वे मेघ-मंद्र मंथर स्वर
जिसकी अनुगूंजों से सारा शून्य भर गया ।

गौतम—यदि इतना ही था तो निर्णय से पूर्व ही,

मुझसे क्यों नहीं लिया परामर्श ?

वर्जित क्यों किया गया

आने से मुझको निज कक्ष में ।

क्या यह भी जाता है नारी के पक्ष में ?

अपना ही घर जिसके कारण

पराये से गया-बीता लगने लगे,

अर्थ ही क्या ऐसे अपनत्व का ?

यही रूप होता है, प्रीति का ममत्व का ?

गोपा— जो चाहे उपालम्भ दे लें मुझे,

कह डालें अपने हृदय की—

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 60

किन्तु, पूरी बात ।

गौतम—पहली बार, आरोपित वर्जना से

आहत हुआ मेरा स्वाभिमान जब

मुझे लगा,

मेरे ऊपर जैसे बिजली-सी टूट पड़ी ।

मेरा नीड़, मेरा स्वतत्व

उसी समय अकस्मात् भस्मसात् हो गया !

शिव के त्रिनेत्र से

विद्युत की महावेग धारा सी फूट पड़ी;

निकली हो जैसे किसी स्थाणु-तरु-कोटर से

अग्नि सरित् !

क्षिप्र, त्वरित् !

क्षण भर में भस्मीभूत हो गया
मेरा मनोराग सब !
देखते ही देखते,
मुझ में ही समा गयी आग सब !
वसना का अंग-अंग क्षार हुआ ।
मुझको प्रतीत हुआ
जैसे मेरे ही भीतर आकर
पराभूत मार हुआ |
कितना समय बीत गया
आज भी मैं उस क्षण के
अनपेक्षित, असहनीय बोध को
भूल नहीं पाता हूँ ।
अनायास उसी बिन्दु पर जैसे
लौट-लौट आता हूँ ।
मूँदता हूँ आँखें—
तो एक स्याह वृत्त-सा
सत्वर गत्वरता से घूम-घूम,
बार-बार आता है सामने ?
शिव से वैर ठानकर

कैसा विभ्रमित रूप पाया है काम ने !
अनुभव की एक गहन सीमा पर
भासित हो उठता है—सचल अचल
अचल सचल !
जितना ही देखा गतिमान तेज,

उतना ही स्थायी हो गया बिम्ब !
गोपे ! तुम्हारा यह गौतम अब
भीतर से सचमुच ही, बदल गया !
ऐसा महा दृश्य मोह-भंग का
बारम्बार देखा नहीं जाता है ।
सब के अनुभव में भी
ऐसा बदलाव नहीं आता है ।

वही मैं हूँ, वही तुम हो,
पर कहाँ सम्बन्ध का वह
उष्ण भाव-वेग !
कहाँ विह्वलता भरी आकांक्षाएँ
हरहराती नदी जैसी उमड़ती उद्दाम !
कहाँ यह सूखा मरुस्थल,
रिक्तता से दग्ध आठों याम !

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 62

यति और गति

(संवादांश-4)

गौतम— राम मैं नहीं हूँ
और, सीता भी नहीं हो तुम
कहीं किसी रावण ने रेखा लाँघ
अपहृत नहीं किया तुम्हें
फिर मेरा

अग्निमय परीक्षा में
कोई विश्वास नहीं ।
मानता हूँ,
नारी के सत्य को
ऐसे उपायों से
जानना असम्भव है,
भले लोक-चित्त में
इनके प्रति आस्था हो,
आज भी ।
अनुभव पर आधारित
प्रज्ञा-उपाय ही
मेरे पथ-दर्शक हैं
इनमें ही सुनता हूँ
मन की आवाज़ भी।
गोपे ! किन्तु संकट का
एक मात्र साथी है
मेरा विवेक ही ।

गोपा— सब अविवेकी हैं,
विवेक के धनी आप हैं !

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 63

सब हैं काले कीट,
धवल चन्दनी आप हैं !
राम नहीं हैं आप
इसी से

नहीं की गयी मैं निर्वासित ।
राम नहीं हैं आप
इसी से
क्या सोचेंगे
और करेंगे क्या
हो पाता नहीं किसी को
कुछ आभासित ।

गौतम — {मन ही मन} निर्वासित मैं स्वयं हुआ जाता हूँ गोपे !
उसमें ही सुख शांति अधिक पाता हूँ गोपे !

उसी विषम सीमा को छूते ही
ठिठक गयी वाणी
पंजर पत्थर हो गये ।
चौथे पहर
राहुल के जगाने से जागकर
दोनों में आयी कुछ चेतना
ताकते रहे यों ही
दीपक की क्षीण धूम्र रेखा से
बनती हुई छायाएँ
मिटती जाती थीं जहाँ ।
देखते रहे चित्रित भित्तियाँ
पर्वतीय सीमा के पार तक जाती हुई
निर्मल आकाश में
उड़ते हंस-मिथुनों की दुग्ध-धवल पंक्तियाँ
चोंच में दबाये हुए

सद्य-छिन्न अरुण श्वेत इन्दीवर
कितने कुशल हाथों ने इनको आँका होगा ।
नीर-क्षीर-विवरण का भाव

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 64

इन्हीं की छवि से सर्वप्रथम
चित्रकार के मन के भीतर झाँका होगा ।
कुछ देर करते रहे सोने का स्वाँग
किन्तु भीतर से
दोनों एक दूसरे का मर्म पहचानते थे ।
मन को स्वाभाव को,
        भली भाँति जानते थे ।
फिर भी कुछ ऐसा था इन दिनों,
दोनों की दृष्टि में—
बिल्कुल अनचीन्हा सा लगता था ।
जिसे देख
प्रीति की जगह दोनों के मन में
भय ही भय जगता था ।
उसी अनचीन्हें को
थाहने-थिराने का संकट था ।
गहरे से गहरे
उतर जाने के बाद भी
हाथ नहीं आती थी
कोई पहचान कहीं
        उस काली छाया की,
घेर कर दोनों को

जो प्रतिक्षण
गूढ़ से निगूढ़ हुई जाती थी
नियति है या कर्म फल !
या केवल मन का छल !
अथवा परिस्थिति को
पूरी तरह आत्मसात करने की अक्षमता ।
मंथन हृदय-सिंघु का
करने को तत्पर थीं
देवासुर-वृत्तियाँ ।

विष निकले या अमृत

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 65

मंथन तो मंथन है
उसको सहना होगा।
सारी गतिशीलता को झेलकर
सूत्र-नँघे काठ के खिलौना सा खेल कर ।
अन्ततः
अविचल रहना होगा ।
अपने में लिये हुए अपना दुख,
सोचते थे दोनों ही अन्तर्मुख,
फिर जैसे भूला कुछ याद कर
मन ही मन प्रश्नोन्मुख हो उठे।
अनायास पीछे को मुड़ते ही,
दोनों के मुख सम्मुख हो उठे।
मिली दृष्टियाँ

जैसे विद्युत तरंगो का

अप्रतिहत आवाहन-संवहन ।

कौन जानता था इस

आँखों के खेल में

गहरे सम्बन्धों के टूटने की

घातक संभावना भी संचित है ।

उच्छल तरंगों में जैसे नक्र !

विष्णु की विचारणा में जैसे चक्र !

कितना भी हो प्रदीप्त

भावी की पूरी गति आँकने की शक्ति से,

अब भी कहीं, मानव-मन वंचित है ।

गोपा— सुनते हो !

नहीं, नहीं,

क्षमा करें मुझसे अपराध हुआ

सुनते हैं आर्य-पुत्र !

गौतम—छोड़ो 'आर्य-पुत्र' को

मैं भी त्याग दूँगा उस बोझ को

सहज सम्बोधन यह

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 66

तुमने जो किया अभी

लगता है कितना प्रिय !

जो भी कहना है,

सब कहो सहज रूप में ।

गोपा— राहुल ने

मेरे ममत्व को

जाने किस अतल-वितल

मन की गहराई तक जगा दिया

सत्य यह है

पर इसमें अपनी अवमानना

मानते हैं आप क्यों ?

क्या उसमें अंश नहीं आपका ?

क्या उस पर मुझसे अधिक

ममता नहीं आपकी !

जन्म-काल में

थोड़ा बाधित होकर ही सही,

क्या मेरे हाथों से छीनकर

उसको दुलारा नहीं आपने !

क्या उसको सोते में चूमा नहीं

देर तक बार-बार;

जागने पर पहरों मनुहारा नहीं आपने ?

रीझ कर कभी तो कभी खीझ कर

अपने इन्हीं हाथों से

क्या उसको स्वयं कभी मारा नहीं आपने ?

मैं सब की साक्षी हूँ

मुझसे क्या कहते हैं ?

पिता में माता का अंश क्या होता नहीं ?

शिशु के ममता-रस के दोनों सहभागी हैं ।

अब कैसे आप उस सच को झुठलायेंगे,

जिसे आपने ही स्वयं अनुभव किया ?

और फिर,

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 67

आप भी क्या अब मुझमें उतने अनुरक्त हैं,

जितने कभी

राहुल के जन्म से पहले रहा करते थे ?

किसी का भी मन में क्या सदा

एक सा ही रहता है ?

माता ही दोषी क्यों सारे परिवर्तन की,

माता के पक्ष से सोचिये तो

पिता भी उतना ही दोषी है ।

—क्या मैं कुछ अनुचित कहे जा रही हूँ ?

गौतम—अनुचित कुछ नहीं गोपे !

जो कुछ तुम कहती हो

समुचित है, सत्य है,

फिर भी एकांगी है ।

प्रतिक्षण परिर्वतन जो होता है व्यक्ति में

प्राणों की हलकी या गहरी आसक्ति में

मैं तो अब उसके परे भी कुछ देखता हूँ

चाहता हूँ उसको पहचानना

जो इस परिर्वतन का साक्षी बना रहता है

मुझमें या तुममें या सारे पदार्थों में

कोई कहीं तो एक चेतना है, प्रज्ञा है, बोध है,

जो सब कुछ अनुभव करके भी सदा

निर्विकार, विलग बना रहता है ।

अनुभव के सारे आधारों में, गुणातीत बहता है ।

मैं जब भी

उसके चिन्तन में रत होता हूँ,

ध्यान-लीन होते ही निस्वन हो जाता हूँ

अपने को महाशून्य सागर के अन्तहीन

तट पर खड़ा पाता हूँ ।

गोपा— इसमें कठिनाई क्या ?

अपने साथ

मुझ को भी

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 68

उसी महासागर की

एक लहर मान लें ।

गौतम—अलग-अलग

लहरों को देखना

सागर को देखना नहीं है कभी,

अपने अहंकार का

पूरा विलय करके

दृष्टि जो उभरती है,

करती है वही सतत

जीवन में निहित गहन सत्व का

पहला साक्षात्कार !

मैं उस अवस्था की

छाया भर पाता हूँ

पहुँचा नहीं हूँ अभी

पूर्ण ध्यान बिन्दु तक ।

गौतम के अर्धोन्मीलित, कीलित,
कमलायत लोचनों में
अपने दीर्घापांगी नयनों को भरते हुए
जन्म-जन्मान्तर की चेतना अनायास
स्नेहाकुल दृष्टि में
समकेन्द्रित करते हुए बोली वह—

गोपा—सुनों ध्यानी !
सुनो मानी !
क्या मैं अब
वैसी नहीं लगती हूँ
जैसी परिणीता होने के समय लगती थी ?
क्या यह नेत्र, अधर, नासिका
सब कुछ बदल गये ?
फिर क्यों मुझे देखते ही यशोधरा कहते हो ?
इनमें अनुराग क्यों तुम्हारा क्षीण होने लगा ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 69

गौतम— {मन ही मन में}
'माना,
परिर्वतन ही तो
इस क्षण-भंगुर सृष्टि का
सुस्थायी धर्म है ।
मन की धुरी पर एक
धर्म-चक्र चलता है,
जो अपनी

तीखी अराश्रों की ज्योति से
मन को ही छलता है
मैंने इतने दिन तक
उसकी ही अप्रतिहत
गति को अवलोका है ।
साहस कर, निग्रह की शक्ति से,
जितना भी रोक सका
परिभ्रमित मन का वेग रोका है ।'
मन का दृढ़ निग्रह ही
अब मेरा मार्ग है ।
दुखमय संसार से स्थायी परित्राण का
एक साथ सबके निर्वाण का
अन्यथा न लेना इसे ।
इसके लिए सचमुच अब
मैं हूँ तुम्हारा ऋणी ।

गोपा— परिवर्तन, परिवर्तन, परिवर्तन
कितना और सुनूँ इसे
मैं हूँ वही गोपा
और आप वही गौतम है
क्या इतने वर्षो का
परिचय यह
झूठा है, भ्रम है, अवास्तव है ?
दुख ही क्यों

परिवर्तन सुख भी तो देता है ।
देखते नहीं हो
अपना राहुल
सब रोना भूलकर,
लगता है मुस्काने
हँसने खिलखिलाने भी
जीवन है तो, गति के साथ-साथ
यति को भी जानना है
हृद्गति में, श्वासों में, रक्त के प्रवाह में,
एक लयमयता समायी है,
उसके स्वभाव को, विधि को, पहचानना है ।
आप तो स्वयं ही है प्रज्ञावान्
मैं क्या कहूँ ।

गौतम— प्रकृति-परिवर्तन के सत्य को
क्या अब तुम
स्वयं नहीं देखती हो
मैं भी तो वैसा अब कहाँ रहा !
क्षण-क्षण परिवर्त्यमान होना ही
क्या अन्तिम सत्य है ?

गोपा— तब फिर वह मूल धर्म क्या है ?
कैसा है वह ?
धारण जो सदा किये रहता है
सृष्टि की सारी संकल्पना को,

रचना को, गति को, नियति को,
जगत की, जीवन की
हर संभव परिणति को ।

गौतम—तुम पहले राहुल को देखती हो
मैं पहले देखता हूँ तुम्हें
यही अन्तर है
मेरी तुम्हारी युग दृष्टियों का

सही दृष्टि होगी—
जब एक साथ देखें हम सृष्टि को ।
सर्वथा तटस्थ हों
सारे सम्बन्धों से निरासक्त
सुख-दुख दोनों से विलग
अपनेपन से भी अलग ।
कहीं कोई केन्द्र-बिन्दु
ऐसा मिले
जिस पर टिक
दूर कर सकूँ मैं इस
दुर्वह अन्तराल को
मेरे तुम्हारे बीच
जो अपने पंजे जमाये हैं ।
सारे अस्तित्व को दबोच कर
कीचक बनाये हैं ।
चाहता हूँ—

कृष्ण की तरह मैं भी
दुखों के यमुना-दह में धँसकर
नाथ सकूँ,
महा काल-व्याल को ।
शक्ति दो, शक्ति दो,
गोपे ! मुझे शक्ति दो,
जो केवल अपने ही
घर तक सीमित न रहे
ऐसी लोक-व्यापी
अनुरक्ति दो ।

गोपा— मैं क्या दूँ, कैसे दूँ,
देने को और कुछ
शेष ही रहा क्या अब मेरे पास ?
पूरी हो आपकी महत्वाकांक्षा, इतना ही कहती हूँ ।
आप का प्रसाद समझ

आप के ही नाम पर
आगे भी सहूँगी
सब यातनाएँ
जैसे उन्हें आज तक
सहती रही हूँ मैं ।
आप ही हों मुक्त
मुझे मुक्ति कहाँ ?
मेरे पास

आप जैसी युक्ति कहाँ ?

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 73

परिणय की परिणति

(संवादांश-5)

गौतम—सोचता हूँ—

क्या मैं तुम्हारे अनुरूप हूँ ?
तुमने कब चाहा
मुझे पुरुष मिले ऐसा
जो क्षण-प्रतिक्षण
चिन्ता में, चिन्तन में
लीन रहे ।
सारे तुम्हारे
नव-संचित प्रसाधन को
नित नूतन वेश-विन्यास को
देखें, पर कुछ न कहे ।
मन में तुम्हारी
नित्य अपरितृप्त आग को ।
समझे, मन-ही-मन—
दिन-रात दहे ।
किन्तु अन्ततः प्रेरित
अपने स्वभाव से,
विवश मौन राह गहे ।

सारे का सारा तुम्हारा

नारीत्व, स्वत्व,

अपने में बाँध लूँ

इतना मैं शक्त नहीं ।

ममता के पाश से उबर न सकूँ,

इतना अशक्त नहीं ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 74

मेरा परिसीमन

क्या होगा आवृत्ति से ?

मेरा उद्बोधन

क्या होगा आसक्ति से ?

पृथ्वी पर फैला दुःख-दाह मुझे टेरता है ।

गृह-केन्द्रित निजता की सीमाएँ तोड़कर,

करुणा का व्यापक प्रवाह मुझे टेरता है ।

जाओ तुम सो रहो ।

राहुलमय हो रहो ।

मैं अपने प्रश्नों का दंश स्वयं झेलूँगा ।

पड़ने नहीं दूगा तुम दोनों पर दुसह भार,

सारा-का-सारा बोझ अपने सर ले लूँगा ।

गोपा— आप गृह-त्याग की ही

बातें क्यों सोचते हैं ?

किया जा सकता है

जन-हित तो

राज्यारोहण से भी ।

वयोवृद्ध महाराज

आपसे ही आशा लगाये हैं ।

राहुल को दुलराने—

साथ-साथ

आपकी मनोगति को थाहने,

पिछले दिनों कई बार

मेरे आप आये हैं ।

पूछती हूँ आपसे

रोगी, जरा-जीर्ण और मरणासन्न

सब की परिचर्या,

उपचार, सुश्रूषा-सेवा,

संभव नहीं है क्या

शासन-व्यवस्था से ?

राज-पक्ष द्वारा

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 75

धन-साधन की

समुचित उपलब्धि से

उनका हित-साधन क्यों शक्य नहीं ?

अपने वंशानुगत

सारे दायित्वों को छोड़कर

एकाकी साधना,

क्या है पलायन नहीं ?

गौतम— राज-तन्त्र सेवा के नाम पर

चाहता है स्वयं-सिद्ध

अप्रतिहत अधिकार,
जिसके लिए होता है
राज-दण्ड दुर्निवार ।
स्वार्थियों की शृंखला
नीचे तक आने कहाँ देती है
करुणा के भाव को
धन-साधन सब पहले
उसकी भूख मेटते हैं
बची-खुची जूठन ही अन्ततः
जनता को मिलती है ।
अपने दोष देखने का समय किसे मिलता है,
औरों पर दोषारोपण करते रहना ही
राजनीति की हो परिभाषा जैसे केवल ।
क्या मैंने देखा नहीं
अपने गण-तन्त्र में
यश सारा शासक को मिलता है;
दोष सब प्रजा के सिर जाता है ।
जो भी विरोध करे स्वार्थियों का,
वही अयश पाता है ।
रखना दंद-फंद से
विरोध को विभाजित सदा
सत्ता-धारियों का
कर्तव्य बन जाता है ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 76

कितने अपराधी

निर्भय प्रश्रय पाते हैं
मान्य राज-पुरुषों की
स्निग्ध छत्र-छाया में ।
कारा में बंदी हैं
कितने ही निरपराध;
लगा हुआ धुन जिनकी काया में,
अनजाने अक्षर बनाता है, मृत्यु के ।
पग-पग पर देकर उत्कोच
कौन अनुचित लाभ लेता नहीं ।
अपने स्वार्थ-साधन से ऊपर
स्व-राज्य को
कोई स्थान देता नहीं ।
ऐसे राज-यन्त्र से
ऐसे गण-तन्त्र से
कैसे जन-हित होगा ?
कितना जन-हित होगा ?
मुझे यही लगता है
त्यागमयी सेवा के
हिंसा-हीन भाव बिना
कहीं कोई द्वार नहीं ।
बिना परमार्थ की सदाशयी प्रवृत्ति के
गर्हित स्वार्थ-वृत्ति से—
होगा निस्तार नहीं ।
मन की दुर्बलता को जीते बिना
किसीको सुलभ होगा

जीवन का सार नहीं ।

गोपा— पूछती हूँ आर्य पुत्र !

कितने लोग संयमी हो

उत्कट तपस्या का मार्ग अपनायेंगे ?

कितने लोग वैभव को

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 77

स्वेच्छा से त्याग कर

निरासक्त वन-पथ को जायेंगे ?

कितने लोग एक साथ वहाँ शान्ति पायेंगे ?

क्या वे राग-द्वेष, लोभ-मोह सब

अपने ही संग-संग वहाँ नहीं लायेंगे ?

अपनी स्वार्थ परता से

अपने सदाशय को —

अन्ततः क्या वे नहीं लांछित करायेंगे,

मन के विकारों से रक्षित रह पायेंगे

कितने लोग, कितने लोग ?

गौतम—गोपे ! सुनों,

सुनों, गोपे !

किसी नये मार्ग की सफलता का

निश्चित प्रमाण तो

उसका प्रयोग और अनुभव ही होता है ।

इतनी अनास्था नहीं

मुझको मनुष्य पर,

उसकी सदाशयता को

समझे-बूझे बिना

कैसे अविश्वास करूँ

उसकी चित्त-वृत्ति पर ?

गिरता है आदमी तो स्वयं ही—

उठने का यत्न भी तो करता है ।

गोपा— यही बात

शासन-व्यवस्था के लिए भी

सही क्यों नहीं है फिर ?

राज्य का आश्रय

सदाशय है क्यों नहीं ?

उस पर संदेह क्यों होता है आपको ?

उसका पथ आपकी दिशा से कहाँ भिन्न है ?

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 78

करती हूँ एक बार आग्रह और

सच्चे क्षत्रिय की भाँति

चाहें तो शासन की बाग-डोर

अपने हाथ में लेकर

होकर संकल्प-निष्ठ

जनता का त्राण करें ।

सबका कल्याण करें ।

{अर्धनिद्रा में स्फुरित स्वर}

गौतम— यह स्त्री भी तुम्हारी नहीं है,

और न यह पुत्र;

तुम किस मोह में पड़े हो,

जात हो चाहे नवजात हो,

सब कुछ नाशवान् है ।

सारे भव दुःखों का कारण है

जन्म ही ।

तुम हो स्वयं प्रज्ञावान्

क्या तुम्हीं अपने को राहुल के जन्म का

कारण समझते हो,

सोचो ! क्या प्रकृति ने ही उसको रचा नहीं ?

भीतर बाहर सबमें

प्रकृति ही सक्रिय है

मन पर, चित्त-वृत्तियों पर

शासन, अनुशासन करो ।

अधोमुखी इन्द्रियों पर विजयी बनो ।

तुम तो मनस्वी हो, मुक्ति का मार्ग वरो ।

उससे आसक्ति कैसी,

जिसके तुम केवल निमित्त हो ।

यशोधरा—यह क्या कह रहे हैं आप !

निद्रा में, स्वप्न में, अथवा अर्धनिद्रा में ?

जागृति में संभव नहीं है आप ऐसा कहें

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 79

अब तक तो कभी मुझे

इतना परायापना भासित नहीं हो पाया ।

शब्द यह किसके हैं ?

स्वर तो आपका ही जान पड़ता है !

राहुल-यशोधरा

दोनों से आपको विरति इतनी !

कौन सी वह साधना है

जिसमें स्वयं अपना ही परिवार

बाधक बने ।

पूर्णता की कैसी वह कल्पना है

नारी का, पुत्र का, जिसमें निषेध हो ?

आप ही जब राहुल को

पुत्र नहीं मानेंगे

त्याग देंगे मुझको भी,

क्या मुझ पर लांछन नहीं आयेगा ?

बढ़ेगी क्या इससे प्रतिष्ठा राजवंश की ?

बोलते क्यों नहीं आप

मैं क्या निद्रा से भी हीन हूँ ?

गौतम—बूँद-बूँद जल के टपकने से

भरी हुई अंजलि रीत जाती है

कोमलतम क्षणों को, अर्थपूर्ण,

इतनी प्रगाढ़ता, इतनी आत्मीयता

अनजाने, जाने कहाँ

रिसकर बीत जाती है ।

भौतिक प्रलोभनों से परिचालित

ऐहिक आकर्षणों की गर्वोन्मत

भारी पद-चाप से

अप्रतिहत उठती हुई धुंध में

स्नेह-दान, आलिंगन, अधर-स्पर्श

सब कुछ तिरोहित हो जाता है, अकस्मात् !

छलना हो जैसे इन्द्रजाल की ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 80

लगता है—

अपने विश्वास को टिकाने का

कोई आधार और चाहिए;

मनो जगत से गहरा,

प्रज्ञा-तल पर ठहरा ।

चारों ओर देखता हूँ

अनाचार ! भ्रष्टाचार ! कदाचार !

मानव को भूल ही गया जैसे सदाचार !

बार-बार सोचता हूँ

कैसे कोई नारी

अन्य अन्य पुरुषों से

उसी प्रीति-लीला को

फिर-फिर दोहराती है ।

कहाँ वह नारी के स्नेह का

सतीत्व का

आजीवन अविचल संकल्प-वरण,

और कहाँ आज वह

पग-पग पर अविचरित उच्छृंखल आचरण !

गोपे ! अब दीखती नहीं है मुझे

कहीं भी

उस अविचल सत्य की

कोई पुण्य-पावन दीप्ति !

गोपा— इतने दिन मेरे साथ रह कर भी
लगता है, नारी के स्वाभिमानी रूप को
आपने अभी तक देखा ही नहीं ।

गौतम—और दूसरा क्या मुझे देखने दिया तुमने ?

गोपा— असमय विराग-भाव से पूरित
आपका प्रवासी-मन
निर्मम निवृत्ति से—
ममता की, राग की,

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 81

दिशा में फेर देने को
नर्तकियाँ की गयीं नियोजित जो
उन्हीं के चरित्र का फलक लेकर
नारी का चित्र आप आँक रहे !
नहीं तो—
कृपया बतायें मुझे,
ऐसा प्रमाणिक
निर्भ्रान्त ज्ञान
पाया कहाँ आपने ?
कहाँ मिले इतने अनुभवी
पुरुष विश्वसनीय ?
कहाँ हुआ उनका सत्संग सुलभ ?
कहाँ मिलीं अनियन्त्रित
उच्छृंखल

पतिता महिलाएँ सब आपको ?

गृहणी के सत्व से—

वत्सल मातृत्व से—

रागमयी नारी का भाव-चित्त पूरा है।

नारी के बिना पुरुष जीवन अधूरा है।

नारी-परित्यागी नर, अपने को छलता है।

जीवन-रथ कहीं एक पहिये से चलता है ?

गौतम—नारी के त्यागने का

प्रश्न ही उठे क्यों यदि

गृह पर ही नहीं

सदा गृह-पति के

मन पर भी

गृहणी का

पूरा अधिकार हो ।

गृहणी का मन भी

गृह-पति के अनुसार हो ।

मेरा अनुरक्त या विरक्त मन

बाँध मिला तुम्हें कभी ?

मेरी परितृप्ति में

अपनी परितृप्ति

कभी मिली तुम्हें ?

गोपा— कहते चलें, कहते चलें,

देखें, कहाँ जाकर ठहरती है
बातें यह निराधर है !
आपने भी मानी कहाँ
अपनी परितृप्ति सदा
मेरी परितृप्ति में ?
आप से ही पूछती हूँ
नारी से कितना समर्पण
आप चाहते हैं ?
आपकी व्यवस्था ने
नर के लिए
सारे अधिकार रचे
खोले सभी रास्ते ।
बाँधने को
घर की परिसीमा में
सारे कर्तव्य बने
नारी के वास्ते ।

हन्त ! हन्त !!
अपने-पराये का इतना भाव
अपने-पराये का इतना भाव
आपके भी मन में समाया रहा
लगातार !
जीतें आप,
माने ले रही हूँ मैं अपनी हार !

गौतम—यशोधरे !

यश तो तुम्हारे ही पक्ष में रहेगा सदा
जीतो चाहे हारो ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 83

सचमुच यहाँ
हारने या जीतने का प्रश्न नहीं,
केवल समस्या है
एक दूसरे के व्यक्तित्व को समझने की
वह भी सद्भावशील होकर,
स्व-भाव से ।
इतने वर्ष बीत गये,
उलझे दैनंदिन व्यापार में,
जान कहाँ पाये हम,
कितनी गहराई है अनथाहे जीवन में !
हमने चाहा कितना !
हमने थाहा कितना !
ऐसा तो नहीं है
कि तिर कर भी,
मृत्यु-भय से—
हम सब केवल
सतही लहरों पर ठहरे हों !
संभव है,
जीवन का अभिप्राय
इससे भी गहरे हों ।
उसी मृत्यु-भय से
मुझे पाना है परित्राण ।

अपने लिए ही नहीं—

सबके लिए,

धरती पर

लाना है परित्राण ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 84

सिद्धार्थ-चिन्तन

(महाभिनिष्क्रमण से पहले)

मेरे कारण यशोधरा को क्लेश हो रहा ।

कितना धूमिल मुख, कैसा श्लथ वेश हो रहा !

नहीं चाहता मैं, बंधन दृढ़तर हो जायें;

नहीं चाहता मुक्ति-भाव बिखरें, छितरायें ।

पर मैं छिपा नहीं सकता, जो कुछ है मन में ।

इसीलिए उलझन बढ़ती जाती जीवन में ।

कायरता ही है असत्य भाषण की जननी ।

उसके आशय से जीवन की गति क्या बननी ।

उस दिन निद्रा में जाने क्या बोल गया मैं ।

यशोधरा के मन में विष-सा घोल गया मैं ।

भले कहा मैंने अचेत में, था असत्य क्या ?

कैसे करूँ निषेध, न होगा वह कुकृत्य क्या ?

पर स्वीकारूँ भी तो कैसे उस आशय को,

जिसके शब्द अपरिचित मेरे मौन हृदय को ।

क्यों ऐसा हो गया, नियति की गति कैसी है ?
मुखर स्वप्न में हुई अचानक, मति कैसी है ?

प्रकट हो गयी मन के संकल्पों की वाणी ।
जैसे भी हो, वही अन्ततः है कल्याणी ।
पर गोपा की सहमति तो लेनी ही होगी ।
चलूँ अभी, सान्त्वना उसे देनी ही होगी ।
गैरिक संध्याकाश मुझे प्रेरित करता है ।
स्वयं शून्य है, पर निज में सब कुछ भरता है ।
यह विरक्त-अनुरक्त सहज ही रह लेता है ।
निस्पृह होकर भी कितना कुछ सह लेता है ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 85

महाशून्य में स्वल्प शून्य लय हो जाता है ।
मनोराग भी इसी तरह क्षय हो जाता है ।
बुझ जाता है दीपा, ज्योति का त्राण वही है ।
सब दुःखों से वही मुक्ति, निर्वाण वही है ।
जरा-मृत्यु, रोगों से जर्जर कायाएँ मैंने देखी हैं ।
पाप-शाप की कलुष-कलंकित छायाएँ मैंने देखी हैं ।
नर हो, नारी हो, अपुरुष हो, बाल-वृद्ध हो ।
दीन-हीन अन्त्यज-कुलीन हो, सुख-समृद्ध हो ।
सब दावानल में जलते से दीख रहे हैं ।
महाकाल से माँग क्षणों की भीख रहे हैं ।
किन्तु काल ने किसे आज तक मुक्त किया है ।
हर प्राणी को ग्रास बनाया, भुक्त किया है ।
मैं, यशोधरा, या राहुल, अपवाद नहीं हैं ।

यम-जिह्वा के परिमित-सीमित स्वाद नहीं हैं ।

आत्म-सत्य का अन्वेषण करना ही होगा ।

गृह-निवृत्त हो त्याग-मार्ग वरना ही होगा ।

जन्मान्तर तक, किसका-क्या लेखा जायेगा ।

जो कुछ भी होगा, आगे देखा जाएगा ।

तुमने चाहा था

मैं पुरुषार्थी बनूँ

शत्रुओं का दमन करूँ

पूरा अधिकार अपने हाथ में लूं ।

लो देखो !

कर लिया मैंने स्वयं

अपनी सब इन्द्रियों पर अधिकार

दमन कर दिया भय का, क्रोध का

लोभ-मोह-काम भी

मुझ को अब बाँध नहीं पायेंगे ।

मैंने मुक्ति पा ली

तुम्हारे लिए सब से नहीं,

सब के लिए तुम से नहीं,

एक साथ सारी एषणाओं-कामनाओं से ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 86

आस्था नहीं है मुझे आत्मा में,

मेरा नैरात्म्य-बोध

पूरी तरह

अपनेपन का समर्थ जेता है ।

मेरा वैराग्य-भाव
निर्मल जल-धारा में
ममता की काई को
जमने नहीं देता है ।
मेरा निर्वाण
वह बिन्दु है
जहाँ क्षण-भंगुर संसार का
सब कुछ निःशेष हो जाता है ।
प्रतिक्षण परिवर्तित मन
दीपक की ज्योति-सा
बुझ कर विलीन हो जाता है
दर्शक भी अन्ततः
दृश्य में समाता है ।
तुम भी सुन लो आकर
कहता हूँ ऊपर उठा कर हाथ
मैं गौतम
केवल यशोधरा का नहीं रहा —
मैं तो अब सारी धरा का हूँ— एक साथ ।
मेरा संकल्प था—
जीवन का मूल-धर्म
मुझसे प्रवर्तित हो चक्र-सा
नहीं चक्रवर्ती बना,
मैं तो बस धर्म-चक्र का ही प्रवर्ती हूँ ।
सांसारिक माया-मोह
त्याज्य है, अनिष्ट है।

करुणा की भूमि पर
सबका कल्याण मुझे इष्ट है ।
इतना कह कर

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 87

सहसा गौतम स्वतः रुक गये ।
यशोधरा के अश्रु-निमज्जित
दीर्घापांगी पद्म-विलोचन
शिथिल झुक गये ।
गौतम के पाँवों में
आँसू भरी आँखें बिछा
दहते मरुस्थल को
सींचते हुए बेबस
उच्छलित मछली सी
कब तक तड़पती रही गोपा
कुछ ज्ञात नहीं ।
चुभते हुए मौन ने
दोनों के होठ सिये ।
इतनी निष्कम्पता, !
जैसे कहीं हुई कोई बात नहीं ।

अकस्मात्
आतुर होकर ज्यों ही—
चलने को हुए सुगत
कंटकित मृणाल-सदृश बाहों ने
दोनों पाँव बाँध लिये ।

एक जल-प्लावन बहा ले गया दोनों को,
नियति का आभास-सा दे गया दोनों को ।
मुक्ति का संदेश था या प्रणय-बन्धन था ?
देह की अनुगूंज थी या बोलता मन था ?
मुँद गये कब नयन उसके,
कब हुए बन्धन शिथिल,
कब पा सके गति पुनः गौतम के चरण ?
कब मिली संकल्पना को शक्ति फिर से
हो सका कैसे सहन गृह-त्याग का क्षण !
सहज गौतम-भाव रखकर
पूछता है स्वयं से कवि ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 88

गोपा मेरी है क्या ?
राहुल मेरा है क्या ?
यह जो मेरा-मेरा करता है,
सचमुच मेरा है क्या ?

तन भी मेरा है क्या ?
मन भी मेरा है क्या ?
जीता तो हूँ मैं, पर—
जीवन मेरा है क्या ?

जिससे भी पाऊँ
दुःख-दाह से

तत्क्षण निस्तार मैं,

वही युक्ति मेरी है ।

क्षण-प्रतिक्षण

मरणोन्मुख जीवन से

उदासीन रहती जो

वही मुक्ति मेरी है ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 89

यशोधरा-चिन्तन

(महाभिनिष्क्रमण के बाद)

प्रियता-वत्सलता से, अपने पन से,

वंचित थे हम दोनों ।

अपने ही घर में खोई निधियों से

संचित थे हम दोनों ।

मैं राहुल को लगी सुलाने

फिर जाने कब स्वयं सो गयी ।

होनी ही थी जो—

मेरी आँखों में आकर लीन हो गयी ।

चले गये वे स्वयं जागकर

हम दोनों को छोड़ दिया

सोता का सोता ।

कैसी थी विडम्बना उस दिन,

कहने से भी अब क्या होता !

कौन जान सकता है—
किसके मन के भीतर कब क्या होता !

मुझ पर था आरोप
कि मैने किया दुराव
अवांछित उनसे ।
गये स्वयं छिपकर
तो फिर क्या—
नहीं हुई है, नैतिकता ही
लांछित उनसे ?
सप्त पदी थी व्यर्थ,
मार्ग जब भिन्न हो गये ।
काया की क्या बात,
हृदय ही छिन्न हो गये ।

गृह की अवमानना,
त्याग गृहिणी का, सुत का ।
रहा शेष क्या अर्थ
अग्नि-आहुति का, हुत का !

वह अशोक-दल-पात्र
न था मेरे कपाल में ।
सदा शोक ही शोक
भाग्य ने लिखा भाल में ।

उभय कुलों से बाध्य की गयी
मैं गोपन में ।
समझ न पायी, क्या आयेगा
उनके मन में ।
अब मैं परित्यक्ता, माता हूँ ।
बुझा दीप, टूटा नाता हूँ ।
मृत्यु मिले तो अंक लगा लूँ ।
पर शिशु को किस कोने डालूँ !

मैं माता क्या बनी,
कोख में पाला दुख था ।
अब लगता है—
बन्ध्या ही रहती तो सुख था ।
मुझसे तो सीता अच्छी थीं,
मिला जिन्हें मातृत्व विजन में।
मैं, घर से, माता बनकर भी,
त्याग दी गयी, सहसा, क्षण में ।

राहुल का अस्तित्व
राहु बन कर ग्रस लेगा !
पुस्तक पृष्ठ संख्या : 91
किसने सोचा था
सुधांशु ही विष उगलेगा ?

कब अपनेपन पर

इतनी कटु आशंका थी ?
उन्हें भले हो,
मुझे नहीं कुछ भी शंका थी ।

भावी ही जैसे
मन की गति मोड़ रही है ।
क्रौंच-मिथुन को
आहत कर, पर तोड़ रही है ।

मुझसे उनका मन अशान्त था,
यह तो माना ।
किन्तु त्याग देंगे आत्मज भी,
कब अनुमाना ।

असंभाव्य संभाव्य हो गया !
मेरा सारा स्वत्व खो गया ।
यही सोचती हूँ, रह-रह कर,
क्या लौटेगा बाण—
धनुष से छूट जो गया ?

शर-वंचित प्रत्यंच-सी
मैं काँप रही हूँ ।
गति से अगति
अगति से गति को—
नाप रही हूँ ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 92

•